युवराज

लघुसिद्धान्तकौमुदी

(संज्ञा एवं सन्धि प्रकरणम्)

[बी० ए०, एम० ए०, समकक्ष संस्कृत एवं प्रतियोगी परीक्षाओं के लिए]

श्रीवरदराजाचार्यकृता

लघुसिद्धान्तकौमुदी

(संज्ञा एवं सन्धि (अच्-हल्-विसर्ग) प्रकरण)

सौधेन्दवी टीकोपेता

छात्रोपयोगी एवं परीक्षोपयोगी संस्करण

सम्पादक एवं व्याख्याकार

डॉ० अमियचन्द्र शास्त्री 'सुधेन्दु'

एम० ए०, पी-एच० डी०, साहित्याचार्य

(विविध संस्कृत अकादमियों द्वारा पुरस्कृत)

युवराज पब्लिकेशन्स, आगरा—2

प्राक्कथन

"ओउम् विश्वानि देव सवित दुरितानि परासुव यद्भद्रं तन्न आसुव" भारतीय संस्कृति का मूल मान्य ग्रन्थ वेद है। वेद चार हैं और वेदांग ६ हैं। शिक्षा, कल्प, छन्द, व्याकरण, निरुक्त और ज्योतिष ये ६ वेद के अंग हैं। इन अंगों में प्रधानता व्याकरण शास्त्र की है। जैसाकि महर्षि पतञ्जलि ने व्याकरण महाभाष्य के पस्पशाह्निक में कहा है—"प्रधानं च षट्स्वंगेषु व्याकरणम्" "प्रधाने च कृतः यत्नः फलवान् भवतीति"। चतुर्वर्ग फल प्राप्ति के लिये वेद विहित कर्मों का अनुष्ठान नितान्त अपेक्षित है। महाभाष्य के अनुसार वेदार्थ ज्ञान साध्य हैं और व्याकरण (शब्दविद्या) ज्ञान उसका साधन है। महाभाष्यकार ने व्याकरण अध्ययन के मुख्य ५ प्रयोजन एवं १३ असुषङ्गिक प्रयोजन बताये हैं।

"रक्षोहागमलध्वसन्देहाः प्रयोजनम्"

वेदों की रक्षा, ऊहः-अर्थानुसार वेद मन्त्रों में विभक्ति का व्यत्यास, आगम विभिन्न मन्त्रों में 'देवासः' आदि प्रयोगों में असुक् आदि का आगम, लघु-स्वल्प शब्दों द्वारा अधिक पदार्थ का ज्ञान और असन्देह—सन्देह की निवृत्ति व्याकरण शास्त्र के अधीन है। इन विषयों का बोध अवैयाकरण को कदापि सम्भव नहीं हो सकता।

अतः निम्नांकित वचन किसी पिता के द्वारा अपने पुत्र के प्रति कहा गया है।

"यद्यपि बहु नाधीषे तथापि पठ पुत्र! व्याकरणम्।
स्वजनः श्वजनो मा भूत् सकलं शकलं सकृच्छकृत्"।।

महावैयाकरण वाक्य पदीपकार श्री भर्तृहरि ने कहा है कि—

"तद् द्वार मपवर्गस्य वाङ्मलानां चिकित्सितम्"।
अपिच—"इयं सा मोक्षमाणाना मजिह्मा राजपद्धतिः"।।

अर्थात् व्याकरण शास्त्र मोक्ष का द्वार एवं वाणी के मल का निरासक होने से चिकित्सा शास्त्र है।

महर्षि पाणिनि प्रणीत 'अष्टाध्यायी' व्याकरण शास्त्र की शृंखला में अद्वितीय रत्न है। महर्षि पाणिनि प्रमाण भूत आचार्य हैं। अष्टाध्यायी के सूत्र-अल्प अक्षरों में महान् अर्थ को प्रकट करते हैं। बिना व्याख्या के सूत्रार्थ समझना कठिन है। इसी कठिनाई को दूर करने के लिये श्री भट्टोजिदीक्षित ने वैयाकरणसिद्धान्त कौमुदी की रचना की और उनके शिष्य आचार्य वरदराज ने मध्यसिद्धान्त कौमुदी एवं लघुसिद्धान्त कौमुदी की

विनम्र निवेदन

भारत की प्रतिष्ठा किंवा विश्वगुरुत्व भावना वस्तुतः संस्कृत और संस्कृति के ही आधार पर अक्षुण्ण रह सकती है। सम्पूर्ण विश्व इसी मान्यता के आधार पर संस्कृत और भारतीय संस्कृति के प्रति चिरन्तन काल से नतमस्तक होकर उन दोनों को सम्मान की दृष्टि से देखता चला आ रहा है। विश्व की प्राचीनतम पुस्तक ऋग्वेद देववाणी संस्कृत भाषा में ही है; इसलिये भी भारतीय संस्कृति से ही विश्व की सम्पूर्ण संस्कृतियाँ अभिभूत एवम् अनुप्राणित हैं और संस्कृत भाषा इन्हीं कारणों से सभी भाषाओं की मूल स्रोत किंवा जननी का समादरणीय स्थान मैक्समूलर (मोक्षमूल) आदि भाषा विज्ञानविदों के मत में प्राप्त कर चुकी है। यही नहीं भारत की सभी प्रान्तीय भाषायें पञ्जाबी, बंगाली, उड़िया, कन्नड़, तमिल आदि तो संस्कृत भाषा के अति निकट ज्ञात होती है।

अस्तुः अपनी संस्कृति की सुरक्षा के मूलग्रन्थ निगमागम, जो धर्म-कर्म के भण्डार हैं, में प्रवेश पाने या अवबोधनार्थ संस्कृत व्याकरण का अध्ययन परमावश्यक है। प्रस्तुत पुस्तक में छात्रोपयोगी एवं परीक्षोपयोगी सामग्री को प्रत्येक प्रकरणोपरान्त स्थान दिया गया है। इसमें संज्ञा और सन्धि प्रकरण (स्वर-व्यञ्जन-विसर्ग सन्धि) लघुसिद्धान्तकौमुदी के अनुसार व्याख्यात किये गये हैं। उक्त प्रकरणों में छात्रों को सरल ढंग से समझाने हेतु विशेष (फुटनोट) सोदाहरण अतिरिक्त उदाहरणोल्लेख भी किये गये हैं अन्ततः पाठकों, छात्रों और प्रवाचकों तथा व्याख्याताओं एवं प्राध्यापकों से उचित परामर्श आमन्त्रित है।

आशा है कि यह सौधेन्दवी टीका छात्रों के हितार्थ सर्वथा परीक्षोपयोगी सिद्ध होगी। ऐसा मेरा विश्वास है।

विदुषां वशंवद

अमियचन्द्र शास्त्री 'सुधेन्दु'

भूमिका

विश्व साहित्य के सबसे प्राचीनतम अनादिग्रन्थ वैदिक वाङ्मय के अन्तर्गत माने जाते हैं। वेदों की भाषा दैवीवाक् (देववाणी) अथवा संस्कृत होने से '**पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति**' इत्यादि श्रुतिवाक्य के अनुसार, संस्कृत 'प्रथमतः वेदवाणी के रूप में परमात्मा की वाणी स्वीकारी जाती है। इसीलिये उसे शाश्वती: अथवा सनातनी किंवा अमरवाणी या देववाणी इत्यादि संज्ञाओं से अभिहित किया जाता है। अतः महर्षियों के द्वारा भी संस्कृत भाषा को 'दैवीवाक्' किंवा देववाणी के पुण्याभिधान से पुकारा जाता है।[१] विना व्याकरण के निर्देशन अथवा व्याकरण के परिज्ञान के बिना किसी भी भाषा की मूल भित्ति (नींव) उसके प्रासाद निर्माण में भ्रान्ति पैदा कर देती है। इसीकारण षड्वेदाङ्गों के परिगणन के परिप्रेक्ष्य में 'व्याकरण' को शरीर के अङ्गों में मुख के प्राधान्य की भाँति प्रमुख (प्रधान) माना गया है।

स्वयं महर्षि पाणिनि ने महेश्वर भगवान् शंकर के ढक्का (डमरू) सूत्र रूप में निःसृतः व्याकरण नामक वेदाङ्ग की रचना की जिसके विषय में वेदपुरुष के मुख की कल्पना की गयी है: '**व्याकरणं मुखं स्मृतम्**'[२] (व्याकरण वेदाङ्गों में मुख्य अथवा वेद पुरुष का मुख है।

व्याकरण को शब्दशास्त्र या पदविज्ञान भी कहते हैं क्योंकि इसके माध्यम से किसी भी शब्द या पद की व्युत्पत्ति अथवा उसका निष्पत्तिमूलक अर्थ अभिव्यक्त होता है। इस दृष्टि से शब्दशास्त्र अथवा पदविज्ञान का परिज्ञान धर्मशास्त्रों में आकर ग्रन्थों (निगमागमों) में प्रवेश पाने के लिए अत्यावश्यक है।

व्याकरण शब्द वि + आ उपसर्ग पूर्वक कृ **(डुकृञ् > करणे)** धातु से ल्युट् (अन) प्रत्यय करके निष्पन्न होता है। '**व्याक्रियन्ते विविच्यन्ते प्रकृतिप्रत्ययादयो यत्र तद् व्याकरणम्**' अर्थात् जिसमें शब्दों के प्रकृति (मूलशब्द या धातु) और प्रत्ययों आदि का विवेचन किया जाता है, उसे व्याकरण कहते हैं। व्याकरण के महत्त्व को श्रुतिवाक्यों द्वारा भी उद्घोषित किया गया है। एक शब्द का भी सम्यक् प्रयोग तथा सम्यग् ज्ञान स्वर्ग लोक में भी कामधेनु के समान अभीष्ट फल प्रदान करने वाला होता है,[३] क्योंकि शब्द ब्रह्म की परिकल्पना महर्षियों द्वारा पहले ही वेदादि धर्मशास्त्रों के माध्यम से की जा चुकी है। अतः इस विज्ञान के युग में शब्द की सत्ता शाश्वत अथवा नित्य स्वीकारी ही नहीं गयी है, प्रत्युत प्रमाणित भी है।

व्याकरण का प्रयोजन—व्याकरण के महत्त्व के प्रतिपादन के साथ-साथ उसके उद्देश्य का भी प्रतिपादन महाभाष्यकार पतञ्जलि के द्वारा इस प्रकार किया गया है।

रक्षोहागमलध्वसन्देहाः प्रयोजनम्। (महाभाष्य १)

१. रक्षा—वेदों की रक्षा करना। **२. ऊह अर्थात् तर्क**—अपेक्षित विभक्ति परिवर्तन एवं वाच्यपरिवर्तन परक। **३. आगम**—"ब्राह्मण को निष्काम भाव से षडंग वेद पढ़ना

१. संस्कृतं नाम दैवीवागन्वाख्यात। महर्षिभिः काव्यादर्श (आचार्य दण्डी)

२. छन्दः पादौ तु वेदस्य, हस्तौ कल्पोऽथपाठ्यते। ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तंश्रोत्रमुच्यते।।
शिक्षा घ्राणं तुवेदस्य, **मुखंव्याकरणं स्मृतम्**।।—पाणिनीयशिक्षा—४१-४२

३. "एकःशब्दः सुप्रयुक्तः सम्यग्ज्ञातः स्वर्गेलोके कामधुग् भवति"—श्रुतिवाक्यम्

चाहिए' इस शास्त्राज्ञा का पालन करना। **४. लघु**—संक्षेपतः शब्द ज्ञान प्राप्त कर **५. सन्देह**—शब्दार्थ की संदिग्धता का परिहार और यथार्थता का बोध प्राप्त करना। प्रकार व्याकरण के पाँच उद्देश्यों का उल्लेख महर्षि पतञ्जलि ने संक्षिप्त रूप से अ महाभाष्य में किया है।

'निरुद्देश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते' अर्थात् विना किसी प्रयोजन के कोई मूर्ख भी कि कार्य में प्रवृत्त नहीं होता। अतः व्याकरण शास्त्र के निर्माण का भी प्रयोजन वैयाक द्वारा प्रतिपादित किया जाना तर्क संगत ही है। प्रातिशाख्यों में प्रत्येक वेद की शाखाओं परिज्ञानार्थ व्याकरण के नियमों को निर्दिष्ट किया गया है। अतः वेद के मन्त्रों की करना व्याकरण का प्रथम लक्ष्य है। प्रातिशाख्यों के पश्चात् यास्काचार्य का निरुक्त वेद के परिज्ञान हेतु बड़ा उल्लेखनीय ग्रन्थ है। निरुक्तकार यास्क पाणिनि से पूर्ववर्ती आच हुए हैं। निरुक्त में वैदिक शब्द-संग्रह निघण्टु नामक ग्रन्थ के शब्दों का विवेचन कि गया है।यास्क ने अपने पूर्ववर्ती कई आचार्यों का उल्लेख किया है जैसेः

शाकटायन, शाकल्य, शाकपूणि, औदुम्बरायण, इत्यादि।

व्याख्या का महत्त्व—संस्कृत वाङ्मय में व्याकरणशास्त्र का स्थान सर्वोपरि क्योंकि व्याकरण शास्त्र के बिना वेदार्थ या स्मृति, पुराण, इतिहास, काव्य कोश अ किसी भी शास्त्रान्तर का ज्ञान हो ही नहीं सकता। इस विषय में भास्कराचार्य के निम्न पद्य रचा गया है :

यो वेद वेदवचनं सदनं हि सम्यग्
ब्राह्मयाः स वेदमपि वेद किमन्यशास्त्रम्।
यस्मादतः प्रथममेतदधीत्य विद्वान्.
शास्त्रान्तरस्यभवति श्रवणेऽधिकारी।। **(भास्कराचा**

पाणिनीय अष्टाध्यायी के भाष्यकार महर्षि पतञ्जलि ने व्याकरणशास्त्र की प्रमुख को प्रतिपादित करने के लिए **'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मःषडङ्गोवेदोऽध्येयो ज्ञेयश** इस शास्त्रोक्त वाक्य का उद्धरण प्रस्तुत करते हुए कहा है : **षट्स्वङ्गेषु प्रधानं व्याकर प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान् भवति'।**

इस प्रकार उपर्युक्त कथन से भी यही सिद्ध होता है कि संस्कृत साहित्य के लि मुख्यतः व्याकरणशास्त्रीय ज्ञान सर्वतो भावेन परमावश्यक है।

व्याकरणशास्त्र के प्रमुख आचार्य

भगवान् पतञ्जलि ने स्वरचित महाभाष्य में प्रथमतः व्याकरण के स्रोत का उल्ले करते हुए निम्न वाक्य प्रस्तुत किया है :

'बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रंप्रतिपदोक्तानांशब्दानां शब्दपारायणं प्रोवा अर्थात् बृहस्पति ने सर्वप्रथम एक हज़ार वर्ष पर्यन्त भगवान् इन्द्र को प्रतिपद पाठ शब्दोपदेश किया था। इस प्रकार सबसे पहले व्याकरणशास्त्र का ऐन्द्रतन्त्र प्राचीन माना जाता है। वैसे तो आठ वैयाकरणों के नाम निम्नलिखत पद्य में विश्रुत हैं :

इन्द्रश्चन्द्रकाशकृत्स्नापिशली शाकटायनः।
पाणिन्यमरजैनेन्द्राःजयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः।

उपर्युक्त वैयाकरणों के द्वारा रचित व्याकरणशास्त्र के ग्रन्थों में से महामुनि पाणिनि द्वारा रची गयी पाणिनीया अष्टाध्यायी सर्वाधिक प्रसिद्ध और प्रचलित है; जो एकमात्र साङ्गोपांग विधि से सम्प्रति समुपलब्ध है क्योंकि अद्यावधि किसी भी अन्य भाषा का ऐसा सरल, सुपरिष्कृत व्याकरण नहीं रचा जा सका है। इस पाणिनीय व्याकरण को हृदयंगम कराने अथवा उसकी सृष्टि कराने में प्रमुखतः मुनित्रय (पाणिनि, पतञ्जलि, कात्यायन) श्रेयोभाजन बने हैं अर्थात् उसकी पूर्णता में प्रमुख भूमिका रही है। प्रथमतः महर्षि पाणिनि ने जो अष्टाध्यायी की रचना की; उसी पर पतंजलि ने महाभाष्य लिखा है एवम् कात्यायन ने वार्तिक लिखकर पाणिनि के सूत्रों की यत्र तत्र कमियों को पूरा किया है। इस प्रकार ये तीनों ही मुनि पाणिनीय व्याकरण की समग्रता किंवा पूर्णता के नियामक प्रवर्तक किंवा विधायक या कारक हैं।

महर्षि पाणिनि के जीवन चरित से सम्बन्धित पर्याप्त सामग्री उपलब्ध नहीं होती पुनरपि सोमदेव कृत कथासरित्सागर, राजशेखर कृत काव्यमीमांसा और पतञ्जलिकृत' महाभाष्य तथा मंजूश्रीमूलकल्प से कतिपय स्फुट विवरण प्राप्त होते हैं। श्री पुरुषोत्तमदेव के त्रिकाण्डशेष में पाणिनि के छह पर्यायवाची शब्द प्रस्तुत किये गये हैं : पाणिन, पाणिनि, दाक्षीपुत्र, शालंकि, शालातुरीयः, आहिक।[१]

कैयट के द्वारा पाणिनि शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में अपना मत प्रस्तुत किया है : पणिन् का पुत्र पाणिन और पाणिन का पुत्र पाणिनि। युधिष्ठिर मीमांसक ने पाणिनि के पिताश्री का नाम पणिन् या पणिन लिखा है। पतञ्जलि ने पाणिनि को महाभाष्य में दाक्षी-पुत्र कहा है। इनके मामा का नाम व्याडि बताया जाता है। क्योंकि ये दक्षकुल में पैदा होने से दाक्षायण अथवा दाक्षि भी कहे जा सकते हैं। कथा सरित्सागर के अनुसार पाणिनि के गुरु श्रीवर्ष थे। पाणिनि को **'शालातुरीय'** कहे जाने से ये शालातुर (लाहौर) के निवासी प्रमाणित होते हैं। **पुरातत्त्ववेत्ताओं** के अनुसार पेशावर में अटक के समीप लाहुर ग्राम ही प्राचीनकाल में शालातुर कहलाता था। पाणिनि की मृत्यु किसी वन में शेर के द्वारा उनके प्राणों का हरण करने से हुई[२]।

युधिष्ठिर मीमांसक के 'संस्कृतव्याकरण का इतिहास' पुस्तक के अनुसार पाणिनि का समय २९०० विक्रम पूर्व (२८५० ई० पू०) निर्धरित किया गया है। महर्षि पाणिनि की निम्नलिखित आठ रचनायें प्रसिद्ध हैं : (१) अष्टाध्यायी, (२) धातुपाठ, (३) गणपाठ, (४) उणादिसूत्र, (५) लिङ्गानुशासन, (६) पाणिनीयशिक्षा, (७) द्विरूपकोश, (८) पातालविजय (जाम्बवतीविजय)।

महर्षि पाणिनि के उत्तरकालीन वैयाकरणों में वार्तिककार **कात्यायन** आते हैं। तत्पश्चात् **पतञ्जलि** ने अष्टाध्यायी के सूत्रों तथा कात्यायन के वार्तिकों की विशद व्याख्या स्वरचित महाभाष्य नामक ग्रन्थ में की है। पतञ्जलि की प्रमुख रचनायें निम्नवत् हैं: (१) व्याकरण महाभाष्य, (२) पातञ्जलयोगसूत्र (योगदर्शन), (३) सामवेदीय निदानसूत्र, (४) महानन्दकाव्य, (५) चरकसंहिता का परिष्कार।

---

१. पाणिनिस्त्वाहिको दाक्षी पुत्रः शालङ्कि—पाणिनौ। शालातुरीय०।।—त्रिकाण्डशेष।

२. व्याकरणस्य कर्तुरहरत्प्राणान् प्रियान् पाणिनेः।—(पञ्चतन्त्र)।।

तत्पश्चात् '**भर्तृहरि**' पतञ्जलि के महाभाष्य के प्रमुख व्याख्याकार हैं। 'भर्तृहरि' ने महाभाष्य पर 'महाभाष्यदीपिका' नामक टीका लिखी है। 'भर्तृहरि' के पश्चात् कश्मीरी पण्डित **कैयट** भी एक प्रसिद्ध वैयाकरण हुए हैं। कैयट के गुरु उद्योत कर थे। युधिष्ठिर मीमांसक ने कैयट का समय १०९० वि० सं० माना है।

कैयट के अनन्तर वैयाकरणों में **भट्टोजिदीक्षित** अत्यन्त प्रसिद्ध महाराष्ट्रिय वैयाकरण हैं जिन्होंने अष्टाध्यायी को सरल और बोधगम्य करने हेतु **सिद्धान्तकौमुदी** की रचना की है। इसमें उन्होंने अष्टाध्यायी को चौदह प्रकरणों में विभक्त किया है। इनके पिता का नाम लक्ष्मीधर तथा छोटे भाई रंगोजि भट्ट एवं इनके गुरु वैयाकरण शेषकृष्ण थे। भट्टोजिदीक्षित ने अप्पय दीक्षित से वेदान्त शास्त्र का अध्ययन किया। भट्टोजिदीक्षित का जन्म १६वीं शती वि० का प्रथम दशक स्वीकार किया जाता है।

रचनायें—भट्टोजिदीक्षित के निम्न ३ (तीन) ग्रन्थ विश्रुत हैं (१) शब्दकौस्तुभ (अष्टाध्यायी के सूत्रों पर टीका), (२) सिद्धान्त कौमुदी, (३) प्रौढमनोरमां (सिद्धान्त कौमुदी की व्याख्या टीका)।

भट्टोजिदीक्षित के पौत्र **नागेशभट्ट** भी एक सुप्रसिद्ध वैयाकरण हुए। इन्हीं का अपर नाम नागोजीभट्ट है। इनके पिता का नाम शिवभट्ट तथा माता का नाम सती देवी। ये व्याकरण साहित्यालंकार, दर्शन तथा ज्योतिष के प्रकाण्ड पण्डित थे। नागेशभट्ट कृत रचनायें—इन्होंने व्याकरण पर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं—

(१) प्रदीपोद्योत (उद्योत), (२) लघुशब्देन्दुशेखर, (३) बृहच्छब्देन्दुशेखर, (४) परिभाषेन्दु शेखर, (५) मञ्जूषा, (६) लघुमञ्जूषा, (७) परम लघुमंजूषा, (८) **स्फोटवाद** (९) महाभाष्य प्रत्याख्यान संग्रह।

वरदराजाचार्य—आचार्य वरदराज के गुरु भट्टोजिदीक्षित ही थे। वरदराजाचार्य ने मध्यसिद्धान्त कौमुदी और लघुसिद्धान्त कौमुदी में सिद्धान्त कौमुदी की सरल टीका तथा व्याख्या लिखी है। इनके दोनों ही कौमुदी ग्रन्थ बड़े ही बालोपयोगी सिद्ध हुए हैं। इनकी लघु कौमुदी का क्रम अत्यन्त युक्तिसंगत होने के साथ-साथ बोधगम्य है।

✤

लघुसिद्धान्तकौमुदी

अथ संज्ञाप्रकरणम्

नत्वा सरस्वतीं देवीं शुद्धां गुण्यां करोम्यहम्
पाणिनीय प्रवेशाय लघुसिद्धान्तकौमुदीम्।।

(सौधेन्दवी व्याख्या)

अन्वय—अहं शुद्धां गुण्यां सरस्वतीं देवीं नत्वा पाणिनीय प्रवेशाय लघुसिद्धान्तकौमुदीं करोमि।

शब्दार्थ—**अहम्** = मैं (वरदराजाचार्यः), **शुद्धाम्** = स्फटिकमणि की भाँति स्वच्छ (निर्मल), **गुण्याम्** = प्रशंसनीय गुणों से युक्त, **सरस्वतीम्** = वाग्देवता (वाणी की साक्षात देवी, **देवीम्** = प्रकाशपूर्ण अथवा द्योतमान, **नत्वा** = नमस्कार करके; **पाणिनीय प्रवेशाय** = महामुनि पाणिनि द्वारा प्रणीत अष्टाध्यायी आदिक व्याकरण शास्त्र के परिज्ञानार्थ अर्थात् व्याकरण में बालकों की बुद्धि के शीघ्रतया प्रवेश कराने के लिये, **लघु सिद्धान्तकौमुदीम्** = 'लघु सिद्धान्त कौमुदी' नामक व्याकरणशास्त्रीयग्रन्थ का, **करोमि** = निर्माण करता हूँ।

भावार्थ—मैं वरदराजाचार्य स्फटिकमणि की भाँति स्वच्छ, नितान्त प्रशसनीय गुणों से युक्त वाणी की देवी भगवती सरस्वती को नमस्कार करके महामुनि पाणिनि द्वारा प्रणयन किये गये व्याकरण शास्त्र में बालकों की बुद्धि शीघ्र प्रवेशार्थ 'लघु सिद्धान्तकौमुदी' नामक ग्रन्थ का निर्माण (स्रजन) करता हूँ।

विशेष—लघुसिद्धान्त कौमुदीम्—कौ पृथिव्यां मोदयति हर्षयति इति कुमुदस्तु चन्द्रः, तस्येयं कौमुदी (जयोत्स्ना कला (चाँदनी) ताम् अर्थात् जो पृथ्वी पर प्रमोद (हर्ष) प्रसारित कर देती है वह कुमुद अथवा चन्द्रमा है तथा उस चन्द्रमा की कला या चाँदनी का पर्यायवाची शब्द 'कौमुदी' **'चन्द्रिका कौमुदीज्योत्स्ना'** (इत्यमरः) अर्थात जो व्याकरणसम्मत सिद्धान्त (प्रमाणिक या निर्णयात्मक नियमों को चाँदनी की तरह स्पष्टतः प्रकाशित (प्रदर्शित) कर देती है वह लघु सिद्धान्त कौमुदी है, इस प्रकार उक्त ग्रन्थ का शब्दबोध स्पष्ट होता है।

माहेश्वरसूत्राणि

अइउण्।।१।।, ऋऌक्।।२।।, एओङ्।।३।।, ऐऔच्।।४।।, हयवरट्।।५।।, लण्।।६।।, ञमङणनम्।।७।।, झभञ्।।८।।, घढधष्।।९।।, जबगडदश्।।१०।।, खफछठथचटतव्।।११।।, कपय्।।१२।।, शषसर्।।१३।।, हल्।।१४।।

इति माहेश्वराणि सूत्राण्यणादिसंज्ञाऽर्थानि। एषामन्त्या इतः। हकारादिष्वकार उच्चारणार्थः। लण् मध्ये त्वित्संज्ञकः।

(सौधेन्दवी व्याख्या)

अइउण्—इत्यादि चतुर्दश (१४) माहेश्वर सूत्र ही प्रत्याहार सूत्र कहलाते हैं। उपर्युक्त चौदह सूत्रों को व्याकरण का आधार मानकर ही महर्षि पाणिनि के द्वारा व्याकरण की सभी सैद्धान्तिक एवं रहस्यात्मक व्युत्पत्तियाँ संक्षेपतः उद्घाटित की गयी हैं।

इति माहेश्वराणि—ये माहेश्वर चतुर्दश सूत्र अण्, इक्, अच् आदि संज्ञक प्रत्याहार सिद्धि के निमित्त निर्दिष्ट किये गये हैं। प्रसिद्ध वैयाकरण महर्षि पाणिनि ने उक्त सूत्रों को भगवान् शङ्कर के डमरू की विशेष ध्वनि से प्राप्त किये थे।

विशेष—महर्षि पाणिनि और कात्यायन परस्पर सतीर्थ्य (सहपाठी) थे क्योंकि वे दोनों पाटलिपुत्र (वर्तमान पटना) के महान् विद्वान् उप पण्डित वर्षाचार्य के अन्ते वासित्व (शिष्यत्व) में अध्ययन करते थे। एक बार पाणिनि कात्यायन से पराजित हो कर प्रयाग में अक्षय वट के नीचे आशुतोष भगवान् शंकर का ध्यान करते हुए घोर तप करने लगे; जहाँ सनकादि ऋषिगण भी तपश्चर्या में पूर्णतः तल्लीन थे। कुछ दिवस बीतने पर उन तपस्वियों की तपश्चर्या से प्रसन्न होकर भगवान् शङ्कर ताण्डव नृत्त करते हुए उनके समक्ष प्रकट हुए और अन्त में १४ बार डमरू बजा कर उन ऋषियों का अभीष्ट सिद्ध किया। उक्त घटनाक्रम का संक्षिप्तीकरण निम्न पद्यमें प्रस्तुत किया गया है—

नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नव पञ्चवारम्।
उद्धर्त, कामः सनकादिसिद्धान् एतद्विमर्शे शिवसूत्र जालम्।।

—(नन्दिकेश्वरकृत-'काशिका')।

एषाम्०—यह प्रतिज्ञा वाक्य है। इन चतुर्दशसूत्रों के अन्तिम वर्ण ण्, क्, आदि इत्संज्ञा वाले हैं। आगे कहे जाने वाले '**हलन्त्यम्**' सूत्र के द्वारा इनकी इत्संज्ञा हो जाती है।

हकारादि—हकारादि वर्णों में सम्मिलित जो अकार है; वह केवल वर्णोच्चारण करने के लिए है इत्संज्ञा के लिये नहीं है।

लण्मध्ये—लण् प्रत्याहार सूत्र के मध्य में लकारोत्तरवर्ती जो अकार है, वह इत्संज्ञक है, उच्चारण मात्र के लिए नहीं प्रयुक्त हुआ है क्योंकि उससे 'र' प्रत्याहार की

इत्संज्ञा विधायकं सूत्रम्

सूत्र १—हलन्त्यम्—१।३।३।।

सूत्रवृत्ति—उपदेशेऽन्त्यं हलित् स्यात्। उपदेश आद्योच्चारणम्। सूत्रेष्वदृष्टं पदं सूत्रान्तरादनुवर्तनीयं सर्वत्र।

लोप संज्ञा सूत्रम्—

सूत्र २—अदर्शनं लोपः—१।१।६०।।

सूत्रवृत्ति—प्रसक्तस्याऽदर्शनं लोपसंज्ञं स्यात्।

इत्संज्ञा के लोप करने का सूत्र—

सूत्र ३—तस्य लोपः—१।३।९।।

सूत्रवृत्ति—तस्येतो लोपःस्यात्। णादयोऽणाद्यर्थाः।।

प्रत्याहार संज्ञा-विधायकसूत्र—

सिद्धि होती है। कहने का आशय यह है कि लण् सूत्र के अन्तर्गत जो लवर्ण के साथ अकार जुड़ा हुआ है, वह इत् संज्ञक है अर्थात् उसकी इत्संज्ञा होगी इसका प्रयोजन उच्चारण मात्र नहीं है। इस इत्संज्ञक अकार का प्रयोजन 'रल्' (= र) प्रत्याहार की सिद्धि है; जिससे 'र, ल' दोनों का ग्रहण होगा क्योंकि संस्कृत व्याकरण में र और ल वर्णों में अभेद माना गया है। अतः यहाँ 'हयवरट्' सूत्र से र वर्ण लेकर आगे के लण् सूत्र के ल वर्ण तक र ल् प्रत्याहार मानकर र ल् का केवल र ही अर्थ होगा और उससे दोनों वर्णों र ल का बोध हो जायेगा।

हलन्त्यम्—उपदेश (मुनित्रय-पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि के द्वारा प्रथमतः उच्चारण किये गये सूत्रादि की अवस्था में जो अन्तिम हल् (व्यंजन) वर्ण होता है, उसकी इत् संज्ञा होती है।

उपदेश आद्योच्चारणम्—आद्य (प्रथम) उच्चारण को उपदेश कहते हैं। जैसा कि निम्नवत् पद्य में निर्दिष्ट किया गया है—

धातु-सूत्र-गणोणादि-वाक्य लिङ्गानुशासनम्।
आगम-प्रत्ययादेशा उपदेशाः प्रकीर्तिताः।।

विशेष—व्याकरणशास्त्र के प्रवर्तक महर्षि पाणनि, कात्यायन, पतञ्जति (मुनित्रय) के द्वारा जो प्रारम्भ में किया गया उच्चारण ही उपदेश कहलाता है।

सूत्रेष्द्दष्टम्—सूत्रों में जो पद दिखलाई नहीं पड़े, उसका दूसरे सूत्रों से अनुवर्तन (अध्याहार) कर लेना चाहिए।

(स्वरों का भेद विवेचन)

अदर्शनम्—प्रसक्त अर्थात् शास्त्रतः अथवा अर्थतः प्राप्त उच्चारण का जो अदर्शन (न दिखलाई या न सुनाई) पड़ने वाला वर्ण होता है, उसकी लोप संज्ञा होती है।

तस्यलोप—जिसकी इत्संज्ञा होती है, उसका लोप हो जाता है।

सूत्र ४—आदिरन्त्येन सहेता—१।१।७१।।

सूत्रवृत्ति—अन्त्येनेता सहित आदिर्मध्यगानां स्वस्य च संज्ञा स्यात्।

यथा—'अण्' इति अइउवर्णानां संज्ञा। एवम् अच् हल् अलित्यादयाः।

ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत संज्ञा सूत्र

सूत्र ५—ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः—१।२।२७।।

सूत्रवृत्ति—उश्च ऊश्च ऊऽश्च वः। वांकाल इव कालो यस्यसोऽच् क्रमाद्ध्रस्व-दीर्घप्लुतसंज्ञः स्यात्।। स प्रत्येकमुदात्तादिभेदेनत्रिधा।

उदात्त संज्ञक सूत्र—

सूत्र ६—उच्चैरुदात्तः—१।२।२९।।

सूत्रवृत्ति—ताल्वादिषु सभागेषु स्थानेषूर्ध्वभागे निष्पन्नरुदात्तसंज्ञाः स्यात्।

अनुदात्त संज्ञासूत्र—

सूत्र ७—नीचैरनुदात्तः—१।२।३०।।

सूत्रवृत्ति—ताल्वादिषु सभागेषु स्थानेष्वधोभागे निष्पन्नोऽनुदात्तसंज्ञः स्यात्।

स्वरित संज्ञा सूत्र—

सूत्र ८—समाहारः स्वरितः—१।२।३१।।

सूत्रवृत्ति—उदात्तनुदात्तत्वे वर्णधर्मो समाह्रियेते यस्मिन् सोऽच् स्वरित संज्ञः स्यात्। स नवविधोऽपि प्रत्येकमनुनासिकाननुनासित्वाभ्यां द्विधा।

अनुनासिक संज्ञाविद्यायकंसूत्रम्—

आदिरन्त्येन—अन्तिम इत्संज्ञक वर्ण के साथ उच्चारित आदि वर्ण अपने तथा मध्यवर्ती वर्णों का भी बोधक होता है। यह प्रत्याहार संज्ञा विधायक सूत्र है।

ह्रस्वसंज्ञा का लक्षण—एकमात्रिक अर्थात् एक मात्रा के समान उच्चारणकाल के बराबर उच्चारणकाल हो जिसका, वह स्वरह्रस्व संज्ञावाला कहलाता है।

दीर्घ संज्ञा का लक्षण—द्विमात्रिक अर्थात् दो मात्रा के समान उच्चारण काल के बराबर उच्चारण काल हो जिसका, वह स्वर **दीर्घ संज्ञक** होता है।

प्लुत संज्ञा का लक्षण—त्रिमात्रिक अर्थात् तीन मात्रा के समान उच्चारण काल के बराबर उच्चारण काल हो जिसका, वह स्वर प्लुत संज्ञक होत। है।

विशेष—'मात्रा' काल को कहते हैं। मुर्गा का शब्द 'कु कू कू ३' में क्रमशः एक मात्रिक, द्विमात्रिक, त्रिमात्रिक अथवा क्रमिक मात्राओं का उच्चारणात्मक उपचय स्पष्टतः प्रतीत होता है। अतः उकार ही दृष्टान्त रूप से यहाँ प्रदत्त है।

ह्रस्वादि स्वर का लक्षण अधोलिखित श्लोक से और अधिक स्पष्ट हो जाता है—

एक मात्रोभवेद्ह्रस्वोद्विमात्रोदीर्घ उच्यते।

त्रिमात्रस्तु प्लुतोज्ञेयो व्यञ्जनंचार्द्धमात्रिकम्।।

ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत संज्ञा सूत्र

सूत्र ९—मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः—१।१।८।।

सूत्रवृत्ति—मुखसहितनासिकयोच्चार्यमाणो वर्णोऽनुनासिकसंज्ञः स्यात्।

स्वरभेद-निरूपणम्—

तदित्थम् 'अ इ उ ऋ' एषां वर्णानां प्रत्येकमष्टादशभेदाः।
लृवर्णस्य द्वादश तस्य दीर्घाभावात्।
एचामपि द्वादश तेषां ह्रस्वाभावात्।।

स प्रत्येक—वह ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत संज्ञक प्रत्येक स्वर (अच) उदात्त, अनुदात्त और स्वरित धर्म विशेष से अर्थात् अपनी-अपनी लक्षणात्मक विशेषता या विविधता (भिन्नता) से तीन-तीन प्रकार का होता है।

उच्चैरुदात्तः—तालु आदि मुख में वर्णों के उच्चारण स्थानों के ऊर्ध्व भाग से उच्चारित जो अच् (स्वर) 'उदात्त' कहलाता है अर्थात् उस स्वर की उदात्त संज्ञा होती है, जिसके उच्चारण में तालु आदि स्थानों का ऊपरी भाग प्रयुक्त होता है।

नीचैरनुदात्तः—कण्ठ तालु आदि सखण्डस्थानों के अधोभाग (नीचे के भाग) में उत्पन्न हुआ कोई स्वर (अच्) अनुदात्त संज्ञा वाला होता है।

समाहार इति—उदात्तत्व और अनुदात्तत्व दोनों का सम्मिश्रण अथवा मिलान जिस स्वर में होता है, वह स्वर (अच्) स्वरित संज्ञा वाला होता है। अर्थात् कण्ठ तालु आदि स्थानों के मध्य भाग से उच्चरित स्वर को स्वरित संज्ञक कहा जाता है।

विशेष—मुख में कण्ठ, तालु आदि जो स्थान होते हैं; वे वर्णों के उच्चारण स्थान होते हैं। वर्णों के उच्चारण काल में भीतर से उठने वाला वायु जिस स्थान विशेष पर ठहरता है, उस स्थान से उच्चरित वर्ण उसी स्थान वाला कहा जाता है। ये सभी स्थान दो भागों में विभक्त होते हैं। अतः इनके ऊपरी भाग से उच्चरित स्वर उदात्त और नीचे के भाग से उच्चरित स्वर अनुदात्त कहे जाते हैं, परन्तु जब मध्यभाग से कोई स्वर उच्चरित होता है, तब वह स्वरित कहा जाता है। इन स्वरों का प्रयोग प्रायः वेदों के मन्त्रोच्चारण के समय किया जाता है।

स इति—उक्त नौ प्रकार के अ इ उ ऋ स्वरों में से प्रत्येक अनुनासिक और अननुनासिक भेद से दो-दो प्रकार का होता है। अर्थात् जैसे नौ प्रकार का 'अ' अनुनासिक भी होता है और अननुनासिक भी। इसी प्रकार इ, उ और ऋ स्वर भी दो-दो प्रकार के होते हैं।

मुखनासिकेति—मुख और नासिका से साथ-साथ बोला जाने वाला वर्ण अनुनासिक संज्ञा वाला होता है अर्थात् मुख और नासिका दोनों की सहायता से उच्चरित स्वर तो अनुनासिक होंगे। इस प्रकार 'अ, इ, उ, ऋ' अनुनासिक भी होंगे और अननुनासिक भी। अतः इनमें से प्रत्येक के अठारह-अठारह भेद होते हैं।

अनुनासिक संज्ञाविधायक सूत्रम्

सूत्र १०—तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्—१।१।९।।

सूत्रवृत्ति—ताल्वादिस्थानमाभ्यन्तर प्रयत्नश्चेत्येतद्द्वयं यस्य येन तुल्यं तन्मिथः सवर्णसंज्ञं स्यात्।

ऋलृवर्णयोः सावर्ण्यविधिवार्तिकतम्—

(बा) ऋलृवर्णयोर्मिथः सावर्ण्यं वाच्यम्।

वर्ण-स्थानानि

१—अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः। २—इचुयशानां तालुः।। ३—ऋटुरषाणां मूर्धा। ४—लृतुलसानां दन्ताः। ५—उपूपध्मानीयानामोष्ठौ।६—ञमङणनानां नासिका च। ७—एदैतोः कण्ठतालू। ८—औदौतोःकण्ठोष्ठम्। ९—वकारस्य दन्तोष्ठम्। १०—जिह्वामूलीयस्य जिह्वामूलम्। ११—नासिकाऽनु स्वारस्य।

तदित्थमिति—तो इस प्रकार 'अ, इ, उ, ऋ' इन स्वरों में से प्रत्येक के अठारह-अठारह भेद होंगे।

लृ वर्ण के बारह ही भेद होंगे, क्योंकि उसका कभी दीर्घ नहीं होता एच् (ए, ऐ, ओ, औ) में से भी प्रत्येक के बारह ही भेद होते हैं क्योंकि इनमें से कोई स्वर ह्रस्व नहीं होता, अपितु सभी दीर्घ होते हैं।

तुल्यास्येति—तालु आदि स्थान और आभ्यन्तर आदि प्रयत्न ये दोनों जिन-जिन वर्णों के समान होते हैं, वे वर्ण परस्पर सवर्ण संज्ञा वाले होते हैं अर्थात् मुख में कण्ठ तालु आदि स्थान होते हैं और वर्णों के आभ्यन्तर तथा बाह्य प्रयत्न आगे बतलाये जा रहे हैं; इस प्रकार जिन-जिन वर्णों के स्थान और आभ्यन्तर आदि प्रत्यत्न तुल्य होंगे, वे परस्पर सवर्ण कहे जायेंगे।

ऋलृवर्णयोरिति—यह वार्तिक है। वार्तिककार कात्यायन कहते हैं कि ऋ-लृ वर्णों की परस्पर सवर्ण संज्ञा कहनी चाहिए।

विशेष—सवर्ण संज्ञा विधायक 'तुल्यास्य प्रयत्नं सवर्णम्' सूत्र केवल उन्हीं वर्णों की सवर्ण संज्ञा का विधान करता है, जिनके स्थान और प्रयत्न समान होते हैं, परन्तु ऋ वर्ण का स्थान मूर्धा है और लृ वर्ण का स्थान दन्त है, अतः इन दोनों वर्णों की सवर्ण संज्ञा उक्त सूत्र से भिन्न-भिन्न स्थानों वाले वर्ण होने के कारण नहीं हो सकती थी, अतएव 'ऋलृर्णयोमिथः सावर्ण्यंवाच्यम्' वार्तिक द्वारा यहाँ इन दोनों वर्णों की सवर्ण संज्ञा का विधान किया गया है।

वर्णों के स्थानों का विवेचन—

अकुह०—अ, कवर्ग (क, ख, ग, घ, ङ), ह और विसर्गों (:) का उच्चारण स्थान कण्ठ है। अत: उक्त वर्णों को कण्ठय वर्ण कहते हैं।

इचुय०—इ, च वर्ग (च्, छ, ज्, झ्, ञ) य् और श् का उच्चारण स्थान तालु है। अत: इन उक्त वर्णों को तालव्य वर्ण कहते हैं।

ऋटूर०—ऋ ट वर्ग (ट्, ठ्, ड, ढ्, ण) र और ष् का उच्चारण स्थान मूर्धा है। अस्तु;, उक्त वर्णों की मूर्धन्य संज्ञा है।

लृतुलस०—लृ, त वर्ग (त्, थ्, द्, ध्, न), ल् और स् का उच्चारण स्थान दन्त है। अत: इन्हें दन्त्य वर्ण कहते हैं।

उपूपध्मा०—उ, प वर्ग (प्, फ्, ब, भ्, म्) तथा उपध्मानीय ≍ प ≍ फ) का उच्चारण स्थान ओष्ठ है। अत: इन्हें ओष्ठय वर्ण कहते हैं।

ञमङ०—ञ्, म्, ङ्, ण्, न् का स्थान नासिका स्थान भी है। अत: उक्त वर्णों की अनुनासिक संज्ञा होती है।

विशेष—यहाँ नासिका स्थान भी कहने का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक वर्ग के पञ्चम अक्षर का अपने वर्ग के अन्य सभी अक्षरों के समान जो कण्ठ आदि स्थान है, वह भी उनका स्थान है तथा इसके अतिरिक्त उसका नासिका स्थान भी है। जैसे 'ङ' का कण्ठ स्थान भी है और नासिका भी है क्योंकि इसका उच्चारण दोनों ही स्थानों से होता है इसी प्रकार ञ्, म्, ण्, न् वर्णों के भी दो-दो स्थान ज्ञात होते हैं।

एदैतोरिति—ए और ऐ का उच्चारण स्थान कण्ठ-तालु है अर्थात् इन दोनों स्वरों का उच्चारण कण्ठ और तालु दोनों स्थानों से होता है।

औदौतो०—ओ और औ का उच्चारण स्थान कण्ठ और ओष्ठ है। अर्थात् इन दानों स्वरों का उच्चारण उक्त दोनों ही स्थानों से होता है। कहने का यही आशय है कि उक्त दोनों ही स्वरों के उच्चारण में सम्मिलित रूप से कण्ठ और ओष्ठ स्थानों का सहयोग लेना पड़ता है अथवा दोनों ही स्थान मिलकर उक्त स्वरों का उच्चारण करने में प्रयुक्त होते हैं।

वकारस्येति—व कार का अथवा 'व' का उच्चारण स्थान दन्त और ओष्ठ है अर्थात् केवल 'व' के उच्चारण में दन्त और ओष्ठ मिलकर प्रयुक्त होते हैं। उक्त दोनों ही सम्मिलित स्थानों से 'व' का उच्चारण होता है।

जिह्वामूलीय०—जिह्वामूलीय (≍ क≍ ख) का उच्चारण स्थान जिह्वामूल अर्थात् जीभ का मूल स्थान है।

नासिकेति—अनुस्वर (ं) का उच्चारण स्थान नासिका है।

यत्न-निरूपणम्

यत्नो द्विधा—आभ्यन्तरो बाह्यश्च।

आद्यः पञ्चधा—स्पृष्टेषत्स्पृष्टेषद्विवृतविवृतसंवृतभेदात्।

तत्र स्पृष्टं प्रयत्नं स्पर्शानाम्। ईषत्स्पृष्टमन्तः स्थानाम्।

ईषद्विवृतमूष्मणाम्। विवृतं स्वराणाम्। ह्रस्वस्याऽवर्णस्य प्रयोगे संवृतम् प्रक्रियादशायां तु विवृतमेव। बाह्यप्रयत्नस् त्वेकादशधा। विवारः संवारः श्वासो नादो घोषोऽघोषोऽल्प प्राणो महाप्राण उदात्तऽनुदात्तः स्वरितश्चेति। खरो विवाराः श्वासा अघेषाश्च। हशः संवाराः नादा घोषाश्च। वर्गाणां प्रथम तृतीय पञ्चमा यणश्चाऽल्प्राणाः वर्गाणां द्वितीय चतुर्थौ शलश्च महाप्राणाः। कादयो मावसानाः स्पर्शाः। यणोऽन्तः स्थाः शलः ऊष्माणः। अचः स्वराः। ≍क ≍ख इति कखाभ्यां प्रागर्धविसर्गसदृशो जीह्वामूलीयः ≍प ≍फ इति पकाभ्यां प्रागर्धविसर्ग सदृश उपध्मानीयः। 'अं', 'अः' इत्यचः परावनुस्वारविसर्गो।।

यत्नोद्विधा—यत्न अथवा प्रयत्न दो प्रकार का होता है—आभ्यन्तर प्रयत्न और बाह्य प्रयत्न।

आभ्यन्तर प्रयत्न—'प्रकृष्टो यत्नः प्रयत्नः' अर्थात् वर्णोच्चारण के पूर्व हृदय में जो यत्न करना पड़ता है, उसी प्रयत्न को आभ्यन्तर प्रयत्न कहते हैं। इसका अनुभव उच्चारण करने वाले को ही होता है। दूसरा प्रयत्न मुख से वर्ण निकलते समय होता है; जिसका अनुभव सुनने वाले को भी **बाह्यप्रयत्न** होता है; अतः इसे बाह्य प्रयत्न कहते हैं। इसका उपयोग सवर्ण संज्ञा में नहीं होता है, किन्तु कई वर्णों में परस्पर अत्यन्त समानता का अन्वेषण करने के समय इसकी आवश्यकता पड़ती है।

आद्यः पञ्चधा—पहला आभ्यन्तर प्रयत्न पाँच प्रकार का है—स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, ईषद् विवृत, विवृत संवृत इस भेद से। **तन्त्र**—इन पाँचों में **स्पृष्ट** प्रयत्न स्पर्श अर्थात् क से म् पर्यन्त वर्णों का है। **ईषत्स्पृष्ट** प्रयत्न अन्तःस्थो अर्थात् यण् (य्, व्, र्, ल्) वर्णों **ईषद्विवृत** प्रयत्न ऊष्म (शल्–श् ष् स् ह्) वर्णों का है। **विवृत प्रयत्न**—स्वरों (अच) वर्णों का है। **संवृत प्रयत्न**—ह्रस्व अकार का है, प्रयोगावस्था में परिनिष्ठित सिद्ध रूप में होता है किन्तु प्रक्रिया **दशा**—साधनिकावस्था में विवृत ही रहता है।

बाह्य प्रयत्नस्तु—बाह्य प्रयत्न तो ग्यारह प्रकार के होते हैं। १—विवार, २—संवार, ३—श्वास, ४—नाद, ५—घोष, ६—अघोष, ७—अल्पप्राण, ८—महाप्राण, ९—उदात्त, १०—अनुदात्त, ११—स्वरित इस भेद से।

विशेष—जिन वर्णों का उच्चारण करते समय कण्ठ का विकास हो उनको विवार तथा उसके अतिरिक्त को संवार एवं जिन वर्णों का उच्चारण करते समय श्वास चलता हो उनको श्वास और जिनका उच्चारण नाद से हो, उनको नाद तथा जिन वर्णों का

उच्चारण करने पर गूँज होती हो, उनको घोष एवं उसके अतिरिक्त को अघोष तथा उनके उच्चारण करने में प्राणवायु का अल्प प्रयोग हो उन्हें अल्पप्राण और अधिक उपयोग वाले वर्णों के प्रयत्न को महाप्राण कहते हैं।

स्वर—प्रत्याहार (वर्गों के प्रथम द्वितीय अक्षरों) एवं श, ष, स् के उच्चारण में विवार, श्वास और अघोष प्रयत्न होते हैं।

हशः—हश् प्रत्याहार के अन्तर्गत आने वाले (ह, य, व, र, ल तथा वर्गों के तृतीय, चतुर्थ और पञ्चम) अक्षरों के उच्चारण में संवार, नाद, घोष प्रयत्न होता है।

वर्गाणां—वर्गों के प्रथम (क, च, ट, त, प), तृतीय (ज, ब, ग, ड, द) तथा पञ्चम (ञ, म, ङ, ण, न) तथा यण् (य, व्, र्, ल्) का अल्पप्राण प्रयत्न है एवं वर्गों के द्वितीय ख, फ, छ, ठ, थ तथा चतुर्थ (झ, भ, घ, ढ, ध) और शल् (श, ष, स, ह) के उच्चारण में महाप्राण प्रयत्न होता है।

कादयो०—क से म पर्यन्त पच्चीस वर्णों को स्पर्श वर्ण कहते हैं क्योंकि इन सभी वर्णों के उच्चारण में जिह्वा कण्ठ तालु आदि स्थानों का पूर्णतः स्पर्श करती है।

यणभेदन्तःस्था—यण् अर्थात् य् व् र् ल् को अन्तःस्थ वर्ण कहा जाता है।

शलः शल् (श्, ष्, स्, ह) वर्णों को ऊष्म संज्ञक वर्ण कहते हैं।

अचः—अच् प्रत्याहार में सभी स्वरों का समावेश होता है। जैसे—अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ। अतः स्वरों की अच् संज्ञा होती है। ≍क ≍ख इस प्रकार क और ख के पूर्व आधे विसर्ग सदृश ध्वनि को जिह्वामूलीय कहते हैं। जैसे—कः + खनति = 'क≍खनति'। यहाँ पर ख से पूर्व अर्धविसर्ग सदृश जिह्वामूलीय वर्ण हो जाता है। इसी प्रकार ≍प और ≍फ अर्थात् प और फ से पूर्व अर्द्ध 'विसर्ग' सदृश उपध्मानीय वर्ण होते हैं। जैसे—कः + पाति = क≍पाति, वृक्षः + फलति = वृक्ष≍फलति यहाँ पर प फ से पूर्व विसर्गों को उपध्यमानीय वर्ण हो जाते हैं।

अं, अः—किसी भी स्वर के बाद आने वाले अं और अः को अनुस्वार तथा विसर्ग कहते हैं। अर्थात् स्वर के ऊपर (ं) अनुस्वार तथा स्वर के पश्चात् (:) विसर्ग कहलाते हैं। ये दोनों चिह्न सदा स्वर के साथ ही आते हैं। ये व्यंजन के साथ कभी नहीं आते, अतः इन्हें अयोगवाह स्वर कहते हैं।

विशेष : १—यहाँ वर्णों के स्थानों तथा उनकी संज्ञा को निम्नवत् चक्र द्वारा समझें—

वर्ण-स्थान एवं वर्ण-संज्ञा चक्र

वर्ण	उच्चारण स्थान	संज्ञा का नाम
अ, क, ख, ग, घ, ङ, ह,	कण्ठ	क से लेकर म तक
इ, च, छ, ज, झ, ञ, य, श	तालु	२५ वर्णों की स्पर्श संज्ञा।
ऋ, ट, ठ, ड, ढ, ण, र, ष	मूर्धा	'य, व, र ल' ये

लृ, त थ, द, ध, न, ल, स	दन्त	चार वर्ण यण् है, इनकी
उ, प, फ, ब, भ, म,।	औष्ठ	अन्तःस्थ संज्ञा।
≍ प ≍ फ		श्, ष्, स्, ह्
ञ, म, ङ, ण, न,	नासिका	ये चार वर्ण
ए, ऐ	कण्ठतालु	शल् अथवा ऊष्म संज्ञा।
ओ, औ	कण्ठओष्ठ	अ से लेकर औ तक
व	दन्त ओष्ठ	के वर्ण अच् अथवा
≍ क, ≍ ख	जिह्वामूलीय	स्वर कहे जाते हैं
अनुस्वार	नासिका	ं अनुस्वार
विसर्ग	कण्ठ	: विसर्ग

विशेष : २—इसी प्रकार वर्णोच्चारण में होने वाली सभी प्रयत्नों को निम्न चक्र से समझिए—

आभ्यन्तर प्रयत्न बोधक चक्र

स्पृष्ट	ईषत्स्पृष्ट	ईषद्विवृत	विवृत	संवृत/विकृत
क च ट त प	य	श	अ इ उ	ह्रस्व 'अ' के
ख छ ठ थ फ	र	ष	ल ऋ	प्रयोग में
ग ज ड द ब			लृ ए	संवृत होता है
घ झ ढ ध भ	ल	स	ओ ऐ	प्रक्रिया की
ङ ञ ण न म	व	ह	औ	दशा में विवृत

बाह्य प्रयत्न बोधक चक्र

विवार श्वास अघोष	संवार नाद घोष	अल्प प्राण	महाप्राण	उदात्त अनुदात्त स्वरित
क ख श	ग ध य	क ग ङ य	ख घ श	अ इ उ
च छ ष	ज झ र	च ज ञ र	छ झ ष	ऋ लृ ए
ट ठ स	ड ढ ल	ट ड ण ल	ठ ढ स	ओ ऐ औ
त थ	द ध व	त द न व	थ ध ह	
प फ	प भ	प ब म	फ भ	

सूत्र ११—अणुदित्सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः—१/१/६९।।

सूत्रवृत्ति—प्रतीयते विधीयते इति प्रत्ययः। अविधीयमानोऽअणुदिच्च सवर्णस्य संज्ञा स्यात्। अत्रैवाऽण् परेण णकारेण। कु, चु, टु, तु, पु, एते उदि०। तदेवम्—अ इत्यष्टादशानां संज्ञा तथेकारोकारौ। ऋकारस्त्रिशंत्। एवं लृकारोऽपि। एचो द्वादशानाम्। अनुनासिकानुनासिकभेदेन यवला द्विधा। तेनाऽनासिका स्ते द्वयोर्द्वयोः संज्ञा।

अणुदिति—जिसका विधान किया जाता है अर्थात् जो विधेय अथवा विधान के योग्य हो, उसे प्रत्यय कहा जाता है एवम् अविधीयमान अर्थात् जिसका विधान नहीं किया जा रहा है; परिणामतः जो प्रत्यय नहीं है, ऐसा जो अविधीयमान अथवा प्रत्यय अण् (अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ, ह्, य्, व्, र्, ल्) और उदित् (कु, चु, टु, तु, पु जो कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग के बोधक होते हैं। इनमें से प्रत्येक के उकार की इत्संज्ञा और लोप करने पर् ये उदित्, जिनमें उ की इत्संज्ञा हुई हो, कहे जायेंगे। अतः इत्संज्ञा लोप करने पर शेष बचे क् च् ट्, त् प् पाँचों ही उदित संज्ञा वाले होंगे। इस प्रकार उक्त सूत्र का संक्षेपतः यह अर्थ होता है कि—अविधीयमान अथवा अप्रत्यय जो अण् एवं उदित् वर्ण सवर्ण संज्ञा के बोधक होते हैं।

निष्कर्षतः अविधीयमान अण् एवं उदित् वर्ण जहाँ प्रयुक्त होंगे, वहाँ वे न केवल स्वयं अपना ही बोध करायेंगे अपतु वे अपने सवर्ण के भी बोधक होंगे अर्थात् क से क वर्ग और प से प वर्ग ही लिया जायेगा। जैसा कि 'कपय्'—माहेश्वर सूत्र में प्रयुक्त क और प न केवल अपना ही नहीं प्रत्यु अपने वर्ग के अन्य चार वर्गों का भी बोधक हैं, अतः अन्य वर्ग भी यदि वे अविधीयमान हैं, तो अपने सवर्ण के बोध होंगे, किन्तु इस सवर्ण बोध के लिए अविधीयमान (अप्रत्यय) होना आवश्यक है। उदाहरणार्थ 'इको यणचि' सूत्र में 'इक्' तो अविधीयमान है किन्तु यण् विधीयमान है क्योंकि इक् के स्थान में उसका नया विधान किया जा रहा है। अतः इक् ही अपने सवर्ण का बोधक होगा यण् नहीं।

अत्रैवेति—यहाँ केवल उत्तम 'अणुदित्' सूत्र में ही 'अण्' प्रत्याहार पर णकार अर्थात् 'लण्' सूत्र के णकार अनुबन्ध तक लिया जायेगा, अन्यत्र सर्वत्र अण् प्रत्याहार 'अ, इ, उ, ण्' सूत्र के णकार तक ही गृहीत होगा अर्थात् अन्यत्र 'अण्' से केवल अ, इ, उ वर्ण ही लिए जायेंगे। इसी प्रकार 'इण्' प्रत्याहार भी सर्वत्र पर णकार अर्थात् 'लण्' सूत्र के णकार तक लिया जायेगा। पूर्ण णकार अर्थात् 'अ, इ, उ, ण्' सूत्र के णकार तक नहीं। जैसा कि निम्नलिखित कारिका द्वारा बतलाया गया है—

परेणैवेण्ग्रहाः सर्वे पूर्वेणैवाण्ग्रहा मताः।
ऋतेऽगुणुदित्सवर्णा स्यैतेदेकं परेण तु।।

उपर्युक्त कारिका भाष्य के व्याख्यानुसार प्रस्तुतीकरण की गयी है सन्देह स्थल में सर्वत्र भाष्यकारादि के व्याख्यान और वचन ही प्रमाण माने जाते हैं। 'अणुदित्-सूत्र में

'अण्' प्रत्याहार पर णकार तक ही लिया जायेगा। इसमें प्रमाण है—'ऋत् उत्' सूत्र में ऋकार का तपर करण; इसका आशय है कि किसी वर्ण का तपरकरण वही किया जाता है, जहाँ कि उससे समकाल का बोध करना होता है। यदि उस सूत्र में 'अण्' पर णकार तक न लिया गया होता तो ऋस्वत: सवर्ण का बोध नहीं करा सकता था अर्थात् 'ऋ' से केवल 'ऋ' ही ग्रहण किया जाता फिर तपर कारण ही व्यर्थ हो जाता। अस्तु; इस व्याख्या से यह निश्चित होता है कि इस सूत्र में 'अण्' प्रत्याहार का णकार तक ही लिया जायेगा।

कुइति—'कु, चु, टु, तु, पु' ये उदित् कहे जाते हैं, क्योंकि इन सभी में उ की इत् संज्ञा है।

तदेवमिति—तब इस प्रकार 'अ' अठारह प्रकार की संज्ञा का बोधक होता है। अर्थात् 'अ' अठारह प्रकार का होता है। परिणामस्वरूप जहाँ कहीं अविधीयमान 'अ' प्रयुक्त होता है, वहाँ वह अपने सवर्ण अठारह प्रकार के 'अ' का बोध कराता है।

विशेष—अकार के ये अठारह प्रकार आगे के पृष्ठ में प्रस्तुत तालिका में प्रदत्त किये गये हैं। ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत भेद से तीन प्रकार का अकार उदात्तादि तीन–तीन भेद से वह अठारह प्रकार का भी और प्रत्येक के अनुनासिक एवं अननुनासिक भेद से वह अठारह प्रकार का होता है। इसी प्रकार इकार और उकार भी १८–१८ प्रकार के होते हैं किन्तु 'ऋलृवर्णादो:' इत्यादि वार्तिकानुसार ऋ व लृ सवर्ण संज्ञक होने से इस ऋकार के १८ + १२ = ३० भेद होते हैं क्योंकि दोनों को सवर्ण कहते हैं। एच् के ह्रस्वाभाव होने से १२ प्रकार हैं।

अनुनासिकाननु०—अनुनासिक और अनुनासिक भेद से य्, व्, ल्, दो–दो प्रकार के होते हैं: अर्थात् अननुनासिक यँ, वँ, लँ और अननुनासिक अर्थात् निरनुनासिक य्, व्, ल्। इस प्रकार ये तीनों दो–दो प्रकार के होते हैं। यद्यपि प्रयोग में प्राय: निरनुनासिक ही य, व्, ल् देखे जाते हैं; परन्तु उन्हें दो–दो प्रकार की ही समझना चाहिए। व्याकरण शास्त्र में इनका द्विविधि प्रयोग प्रचालित है।

उपर्युक्त स्वर भेदों को निम्नलिखित तालिका के द्वारा सरलतया समझा जा सकता है—

स्वर भेद बोधक तालिका

वर्ण	अ, इ, उ, ऋ, लृ	अ, इ, उ, ऋ, ए, ओ, ऐ, औ	अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ
भेद	ह्रस्व उदात्त अनुनासिक	दीर्घ उदात्त अनुनासिक	प्लुत उदात्त अनुनासिक
	ह्रस्व उदात्त अननुनासिक	दीर्घ उदात्त अननुनासिक	प्लुत उदात्त अननुनासिक
	ह्रस्व अनुदात्त अनुनासिक	दीर्घ अनुदात्त अनुनासिक	प्लुत अनुदात्त अनुनासिक
	ह्रस्व अनुदात्त अननुनासिक	दीर्घ अनुदात्त अननुनासिक	प्लुत अनुदात्त अननुनासिक
	ह्रस्व स्वरित अनुनासिक	दीर्घ स्वरित अनुनासिक	प्लुत स्वरित अनुनासिक
	ह्रस्व स्वरित अननुनासिक	दीर्घ स्वरित अननुनासिक	प्लुत स्वरित अननुनासिक

(संहिता संज्ञा विधायकं सूत्रम्)

सूत्र १२—परः सन्निकर्षः संहिता—१/४/१०९।।

सूत्र वृत्ति—वर्णानामति शयितः सन्निधिः संहित तासंज्ञः स्यात्।

(संयोगसंज्ञा विधायकं सूत्रम्)

सूत्र १३—हलोऽनन्तरा संयोगः—१/१/०७।।

सूत्रवृत्ति—अरिभरव्यवहिता हलः संयोग संज्ञाः स्युः।

(पदसंज्ञा विधियकं सूत्रम्)

सूत्र १४—सुप्तिङन्तं पदम्—१/१/१४।।

सूत्रवृत्ति—सुवन्तं तिङन्तं च पदसंज्ञं स्यात्।

(इति संज्ञा प्रकरणम्)

पर इति—वर्णों को अत्यन्त निकटता को संहिता कहते हैं। संहिता का यथार्थतः प्रयोग संधि प्रकरण में सर्वाधिक रूप से दृष्टिगत होता है क्योंकि जब दो वर्णों के मध्य में अत्यन्त समीपता होती है तभी उनमें अन्य किसी वर्ण के व्यवधान के अभाव में ही परस्पर सन्धिकार्य सम्भव होता है, अतः उन वर्णों की संहिता संज्ञा कहलाती है। उदाहरणार्थ—मधु + अरि। इस अवस्था में मधु का उत्तरवर्ती उ तथा अरि के पूर्ववर्ती अ के मध्य में किसी भी अन्य वर्ण का व्यवधान न होने से उक्त दोनों वर्णों की संहिता संज्ञा कहलायेगी। ऐसी स्थिति में इनमें सन्धि विधान लागू होता है तभी 'इकोयणचि' सूत्र के नियम से 'मध्वरि' अथवा 'मद्ध्वरि' सन्धिरूप बनता है। ऐसा ही अन्य सन्धि स्थलों में जानना चाहिए।

हल इति—स्वरों के व्यवधान से रहित हल् (व्यञ्जन) वर्णों की संयोग संज्ञा होती है। यह संयोग केवल शुद्ध व्यञ्जनों के बीच ही हो सकता है; यदि उनके बीच में कोई स्वर होगा तो संयोग संज्ञा सम्भव नहीं है।

विशेष—'हल्' से यहाँ हल् प्रत्याहार अर्थात् सम्पूर्ण व्यञ्जन वर्णों का ही समावेश होगा। अस्तु; उक्त सूत्रानुसार दो या दो से अधिक उन्हीं व्यञ्जनों के मध्य संयोग होगा जिनके मध्य में कोई स्वर न आये। जैसे 'मद्ध्वरि' उदाहरण में उ को व करने पर ध् को द्वित्व और पूर्व धकार को दकार होने पर 'द् ध् व' इस सन्धिविधान की स्थिति में इनके मध्य में किसी भी स्वर का व्यवधान न होने के कारण इनकी संयोग संज्ञा होगी। अर्थात् यहाँ उक्त तीनों ही व्यञ्जनों को संयोग संज्ञक कहेंगे।

सुप्तिङिति—सुबन्त और तिङन्त की पद संज्ञा होती है अर्थात् सुबन्त और तिङन्त पद संज्ञक कहलाते हैं अथवा सुबन्त और तिङन्त को पद कहते हैं। उत्तम परिभाषा को

सरलतया समझने के लिए यहाँ यह कहा जा सकता है कि 'सु और जस्' आदि शब्द रूपों के २१ प्रत्यय तथा 'तिप्, तस्, झि' आदि धातु रूप के १८ प्रत्यय (परस्मैपद के ९ प्रत्यय + आत्सनेपद के ९ प्रत्यय मिलकर) तिङ् प्रत्यय जिन के अन्त में हो, वे सभी पद संज्ञक कहलाते हैं।

विशेष—सुप् प्रत्यय शब्द रूपों का निर्माण करते हैं तथा तिङ् प्रत्यय क्रिया रूपों का निर्माण करते हैं। अतः ये दोनों ही प्रकार के प्रत्यय जिसके अन्त में लगे होते हैं तब उन रूपों की पद संज्ञा होती है। जैसे—रामः रामौ रामाः इत्यादि सुबन्त पद हैं तथा भवति, भवतः भवन्ति इत्यादि तिङन्त पद होते हैं।

इन सभी संज्ञाओं का उपयोग अथवा व्यावहारिक परिणाम या फल सन्धि प्रकरण में देखने को मिल सकेगा इसी प्रकार संज्ञा करण में निर्दिष्ट अन्य संज्ञाओं का भी फल आगे प्राप्त हो सकेगा।

।।इति संज्ञाप्रकरणम्।।

परीक्षोपयोगी प्रश्न

- **बहुविकल्पीय**

१. लघुसिद्धान्त कौमुदी के रचनाकार आचार्य वरदाचार्य ने किस ग्रन्थ में प्रवेश पाने हेतु स्वरचित ग्रन्थ का मङ्गलाचरण किया है।
(क) सिद्धान्तकौमुदी, (ख) काशिकावृत्ति,
(ग) महाभाष्य, (घ) अष्टाध्यायी।

२. 'अट्' प्रत्याहार में वर्ण नहीं आता है।
(क) इ, (ख) लृ, (ग) र, (घ) झ।

३. 'संयोग' संज्ञा का सूत्र है।
(क) आदिरन्त्ये सहेता, (ख) हलन्त्यम्,
(ग) हलोऽनन्तरा संयोग, (घ) परः सन्निकर्षः संहिता।

४. माहेश्वर सूत्रों की संख्या है।
(क) १४, (ख) ५२, (ग) ४२, (घ) २८।

५. सवर्ण संज्ञा का सूत्र होता है।
(क) मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः,
(ख) तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्,
(ग) अणुदित्सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः,
(घ) सुप्तिङन्तं पदम्।

६. 'ऋलृवर्णयोर्मिथः सावर्ण्यवाच्यम्' के अनुसार ऋकार के प्रकार होते हैं।

(क) १८, (ख) १२,

(ग) ३२, (घ) ३०।

७. मूर्धन्यवर्ण नहीं है।

(क) ठ, (ख) ष,

(ग) र, (घ) ल।

८. अन्तःस्थ वर्णों का सही प्रयत्न होता है।

(क) स्पृष्ट, (ख) विवृत्त,

(ग) ईषत्सपृष्ट, (घ) संवृत।

९. बाह्य प्रयत्नों के सही भेद होते हैं।

(क) ५, (ख) ११,

(ग) ८, (घ) १५।

१०. दन्त्यवर्ण नहीं है।

(क) लृ, (ख) द,

(ग) ज, (घ) स।

उत्तरमाला

१. (घ) २. (घ) ३. (ग) ४. (क) ५. (ख) ६. (घ) ७. (घ) ८. (ग) ९. (ख) १०. (ग)।

- **लघु उत्तरीय**

प्रश्न १. अ, इ, उ इन तीनों वर्णों के कितने भेद पृथक्-पृथक् होते है।

उत्तर—अ, इ, उ तीन वर्णों के पृथक्-पृथक् १८-१८ भेद होते हैं क्योंकि उक्त प्रत्येक वर्ण के ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत ये तीन भेद हुए और प्रत्येक ह्रस्वादि के उदात्त, अनुदात्त, स्वरित नामक तीन-तीन भेद होने से ३ × ३ = ९ प्रकार के होते हैं तथा वे अनुनासिक एवं अननुसासिक दो-दो भेदों में विभाजित होकर ९ × २ = १८-१८ प्रकार का प्रत्येक वर्ण हो जाता है।

प्रश्न २. आभ्यन्तर प्रयत्नों में आने वाले कितने और किस-किस नाम वाले प्रयत्न कहलाते हैं।

उत्तर—आभ्यन्तर प्रयत्न पाँच प्रकार का होता है। जिसके निम्नवत् नाम है—

(१) स्पृष्ट, (२) ईषत्स्पृष्ट, (३) ईषद्विवृत्त, (४) विवृत्त, (५) संवृत।

प्रश्न ३. बाह्य प्रयत्न संख्या और उनके क्या-क्या नाम हैं। नामोल्लेख कीजिए।

उत्तर—बाह्य प्रयत्न संख्या में ११ होते है जिनके निम्नवत् नाम अभिहित किये जाते हैं।

(१) विवाद, (२) श्वास, (३) अघोष, (४) संवार, (५) नाद, (६) घोष, (७) अल्पप्राण, (८) महाप्राण, (९) उदात्त, (१०) अनुदात्त, (११) स्वरित।

प्रश्न ४. अल्पप्राण प्रयत्न किन वर्णों के उच्चारण में होता है।

उत्तर—वर्गों के प्रथम, तृतीय और पञ्चम वर्णों तथा यण् (अन्तः स्थ वर्णों) के उच्चारण में अल्पप्राण नामक प्रयत्न होता है।

प्रश्न ५. उदात्तानुदात्तस्वरित नामक प्रयत्न किन वर्णों के उच्चारण में होते हैं ?

उत्तर—सभी स्वरों (अच्-अ, इ, उ, ॠ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ) के उच्चारण में उक्त तीनों प्रयत्न होते हैं।

प्रश्न ६. तालव्य वर्ण कौन-कौन से होते हैं ।

उत्तर—इ, च वर्ग (च, छ, ज, झ, ञ) तथा य और श तालु नामक स्थान से उच्चरित होने के कारण तालव्य वर्ण कहे जाते हैं ।

- **दीर्घ उत्तरीय**

प्रश्न १. इत्संज्ञा बोधक सूत्र की व्याख्या सोदाहरण करें।

प्रश्न २. संहिता संज्ञा की सोदाहरण परिभाषा लिखिए।

प्रश्न ३. निम्नलिखित संज्ञाओं की सूत्र सहित्य व्याख्या करें।

पद संज्ञा, अनुनासिक, उदात्त, सवर्ण, उनुदात्त, स्वरित।

विशेष : दीर्घ उत्तरीय प्रश्नों के उत्तर पुस्तक के मूल भाग में देखें।

✤

लघुसिद्धान्तकौमुदी

अथ अच् सन्धि (स्वर-सन्धि) प्रकरणम्

सूत्र १५—इको यणचि—६।१।७७।।

सूत्रवृत्ति—इकः स्थाने यण् स्यादचि संहितायां विषये।

सुधी उपास्य इति स्थिते।

सूत्र १६—तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य—१।१।६६।।

सूत्रवृत्ति—सप्तमी निर्देशन विधीयमानं कार्यं वर्णन्तरेणाव्यवहितस्य पूर्वस्य बोध्यम्।

गत संज्ञा प्रकरण में स्वरों के लिए संकेत बोधक अच् प्रत्याहार निर्दिष्ट किया जा चुका है; क्योंकि 'अच' सभी स्वरों का बोधक अथवा सूचक प्रत्याहार है। अतः यहाँ अच् सन्धि प्रकरण में स्वर सन्धियों के विषय में नियम निर्दिष्ट किये गये हैं।

इक इति—इक् अर्थात् इक् प्रत्याहारान्तर्गत वर्ण—(इ, उ, ऋ, लृ के स्थान पर यण् (यण् प्रत्याहारान्तर्गत वर्ण य्, व्, र् ल्) हो जाते हैं। अर्थात् असमान तथा संहिता संज्ञक (वर्णों की अत्यन्त समीपता विषयक) स्थिति में उक्त सन्धि नियम का विधान लागू होता है।

'सुधी + उपास्य' इस स्थिति में—

प्रस्तुत सूत्र संख्या १५ में 'इकः' पद में षष्ठी विभक्ति है, अतः उसका अर्थ इक् के स्थान में किया गया है तथा 'यण्' पद में प्रथमा विभक्ति है और यही विधेय है। 'अचि' पद में सप्तमी विभक्ति है, अतः इसका अर्थ स्वर के परे (बाद में) रहने पर किया गया है। इस प्रकार उक्त सूत्र से यही अर्थ निष्पन्न होता है पाणिनीय सूत्रों की व्याख्या के विषय में प्रायः यही विधान लागू होता है।

उपयुक्त सूत्र की प्रवृत्ति को समझाने हेतु 'सुधी + उपास्यः उदाहरण प्रस्तुत यहाँ सर्वप्रथम यह सन्देह खड़ा होता है कि उक्त उदाहरण में इक प्रत्याहार के तीन स्वर हैं—सकार का उ, धकार का ई एवं उपास्य के आदि में उ है। अतः किस इक् के स्थान में यण् का विधान किया जाये। क्योंकि उक्त सूत्र तो इक् के स्थान पर यण् के विधान का निर्देश करता है। अस्तु इस शंका के निवारणार्थ ही अग्रिम सूत्र का निर्देश किया गया है—

सूत्र १७—स्थनेऽन्तरतमः—१।१।५०।।

सूत्रवृत्ति—प्रसङ्गे सति सदृशतम आदेशः स्यात्। 'सु ध् य् + उपास्यः' इति जाते।

सूत्र १८—अनचि च—८।४।४७।।

सूत्रवृत्ति—अचः परस्य यरो द्वे वा स्तो न त्वचि। इति धकारस्य द्वित्वम्।

सूत्र १९—झलांजश् झशि—८।४।५३।।

सूत्रवृत्ति—स्पष्टम्। इति पूर्वधकारस्य दकारः।

तस्मिन्निति—सप्तमी विभक्ति वाले किसी पद का उच्चारण करके उसके द्वारा किये जाने वाला कोई कार्य अन्य वर्णों से व्यवधान रहित पूर्व वर्ण के स्थान में होता है। इसका अभिप्राय यह निकलता है कि प्रस्तुत उदाहरण सिद्धि के लिए उक्त सूत्र में निर्दिष्ट सप्तमी विभक्ति वाला पद अचि है जिसका प्रतिनिधि भूत वर्ण यहाँ उपास्य का उ है। अतः विधीयमान यण् रूप कार्य इस उ से पूर्व वर्ण को ही होना अभीष्ट होगा। सुधी के सकारोत्तरवर्ती उ को भी यण् कार्य नहीं हो सकता क्योंकि उ और इ के मध्य में ध का व्यवधान है। यण् वहीं होता है जहाँ दो वर्णां के मध्य किसी अन्य वर्ण का व्यवधान न हो तथा दोनों में अत्यन्त समीपता अथवा वे संहिता विषयक हो। अस्तु; उक्त सूत्र के नियमानुसार धकार के उत्तरवर्ती 'ई' और उपास्य के मध्य में ही संहिता विषयक स्थिति होने से यण् सन्धि विधान का नियम लागू होगा, क्योंकि इन दोनों के बीच में किसी अन्य वर्ण का व्यवधान नहीं है।

अब उपर्युक्त विधान के सुनिश्चित होने पर भी यहाँ यह सन्देह उत्पन्न होता है कि 'यण' प्रत्याहार में तो चार वर्ण आते हैं—य व र ल तब 'ई' के स्थान पर अन्ततः कौन–से वर्ण का आदेश समीचीन रहेगा। अस्तु उक्त शंका के समाधानार्थ अग्रिम सूत्र सं. १७ प्रस्तुत है—

स्थान इति—प्रसङ्ग अर्थात् एक स्थानी के स्थान पर अनेक आदेशों की प्राप्ति होने पर सदृशतम (सबसे अधिक समान) आदेश ही होता है। सदृशतम का अर्थ है कि जिन वर्णों की स्थानीय के ही साथ सबसे अधिक समानता अथवा सवर्ण संज्ञा की सूचकता होती है अर्थात् जिसके स्थान पर आदेश होना है उस स्थानी वर्ण की और जो आदेश होना है उनकी परस्पर 'तुलास्य प्रयत्नं सवर्णम्' प्रतिज्ञानुसार सवर्ण संज्ञा होनी चाहिए तभी स्थानी तथा आदेश के वर्ण 'सदृशतम' कहलायेंगे। 'सुधि + उपस्यः' इस उदाहरण में ई के स्थान पर य्, व्, र्, ल् इन चारों वर्णों का आदेश प्राप्त होता है, किन्तु प्रस्तुत सूत्र के नियमानुसार ई के साथ य् वर्ण की अत्यन्त समानता है क्योंकि ये दोनों तालव्यवर्ण होने से सदृशतम अर्थात् सबसे अधिक समान हैं। यह अत्यन्त समानता

'इचुयशानांतालु' संज्ञात इसका उक्त सूत्र से ई के स्थान पर य्' आदेश होने पर सुध् + य + उपास्यः' यह बनने पर–

अनचि च–अच् अर्थात् प्रत्याहारान्तर्गवर्ती वर्णों अथवा सभी स्वरों से परे अथवा बाद में यर् य, व, र, ट्, सूत्र के य से लेकर शषसर् सूत्र के र कार तक के सभी वर्णों को द्वित्व विकल्प से हो जाता है किन्तु यदि यर् के पश्चात् स्वर आये तो द्वित्व नहीं होता। प्रस्तत उदाहरण में 'सु, ध्, य् उपास्यः' इस स्थिति में सकारोत्तर वर्ती उकार अच् (स्वर) है और उससे परे (बाद में) ध् यर् प्रत्याहार के अन्तर्गत आता है। अतः इस धकार (ध्) को प्रकृत सूत्र 'अनचि' से द्वित्व होगा, क्योंकि ध के बाद में जो य् आया है, वह स्वर नहीं है प्रत्युत व्यञ्जन है। अस्तु, ध् को विकल्प से द्वित्व करने पर 'सुध् ध् य् + उपास्यः' बना इस स्थिति के होने पर–

झलामिति–झलों (झल् प्रत्याहार के अन्तर्गत आने वाले वर्णों) के स्थान पर जश् (जश् प्रत्याहार के अन्तर्गत आने वाले वर्ण) अर्थात् वर्गों के तृतीय अक्षर हो जाते हैं, झश् प्रत्याहार के वर्ण बाद में होने पर अर्थात् झश् वर्णों के परे रहते हों तब उक्त सन्धि विधान लागू होता है।

प्रस्तुत उदाहरण में सु, ध्, ध, य + उपास्यः इस स्थिति में प्रथम धकार झल् वर्ण से परे झश् वर्ण द्वितीय धकार आया है, अतः प्रकृत सूत्र से पूर्व धकार को जश् वर्ण अर्थात् उसी वर्ग का तृतीय अक्षर दकार होगा क्योंकि धकार का सवर्ण वर्ण द् ही है और वह जश् (तृतीय वर्ण) भी है। अतः ध् को द् करने पर–'सु, द्, ध्, य् + उपास्यः' यह स्थिति बनेगी।

विशेष–व्याकरणशास्त्र के कतिपय पारिभाषिक शब्द प्रयुक्त हुये हैं जिनको समझना छात्रोपयोगी होगा। उनमें से स्थानी तथा आदेश शब्दों को यहाँ विशेषतः सन्धि प्रकारण में स्पष्ट किया जाता है।

१. स्थानी–जिस वर्ण के स्थान पर कोई आदेश होता है, उस वर्ण को स्थानी वर्ण कहा जाता है। जैसे 'सुधी + उपास्य' इस उदाहरण में 'ई' के स्थान पर य आदेश हुआ है। अतः 'ई' यहाँ स्थानी कहा जायेगा।

२. आदेश–किसी वर्ण के स्थान में जिस वर्ण का विधान किया जाता है, वह वर्ण आदेश कहलाता है–जैसे 'सुधी + उपास्यः' उदाहरण में ई के स्थान पर य् वर्ण का विधान है। अतः यहाँ य् वर्ण आदेश कहा जायेगा। आदेश होने वाला वर्ण अपने पूर्व वर्ण को उसके स्थान से हटाकर होता है अर्थात् अपना अधिकार कर लेता है। अतः शत्रुवत् आदेशः अर्थात शत्रु की तरह आदेश होता है और मित्रवद् आगमः अर्थात् आगम मित्र की तरह होता है।

सूत्र २०—संयोगान्तस्य लोपः—८।२।२३।।

सूत्रवृत्ति—संयोगान्तं यत् पदं तदन्तस्य लोपः स्यात्।

सूत्र २१—अलोऽन्त्यस्य—१।१।५२।।

सूत्रवृत्ति—षष्ठीनिर्दिष्टोऽन्त्यस्यादेशः स्यात्। इति य लोपे प्राप्ते।

(वा) यणः प्रतिषेधो वाच्यः।

सुद्ध्युपास्यः, सुध्युपास्यः। मद्ध्वारिःमध्वरिः। धात्त्रंशः धात्रंशः। लाकृतिः।

संयोगान्तस्येति—स्वरों के व्यवधान से रहित हल् वर्णों की संयोग संज्ञा पिछ[ले] प्रकरण (संज्ञा प्रकरण) में परिभाषित की जा चुकी है।अतः यहाँ सूत्र का अ[र्थ] निम्नवत् है—

संयोग जिस पद के अन्त में हो, उस पद के अन्तिम वर्ण का लोप हो। यद्यपि उ[स] सूत्र का अपना तो यही अर्थ निकलता है कि संयोगान्त पद का लोप हो किन्तु प्रकृत सू[त्र] का जो अर्थ उपरिलिखित रूप से किया गया है, वह अर्थ तो आगे के नियाम[क] परिभाषा सूत्र 'अलोऽन्त्स्य' के आधार पर किया गया है अर्थात् दोनों सूत्रों का परस्[पर] मिलकर ही यह परिणामतः अर्थ हुआ है। यदि ऐसा न किया जाता तो अन्य सूत्रों [का] केवल सामान्य अर्थ ही लिया जाता, तब तो इस सामान्य अर्थ के अनुसार 'सुद्ध् य्' इ[स] सम्पूर्ण संयोगान्त पद का ही लोप हो जाता, तब तो इसके फलस्वरूप उक्त सूत्रों [का] सन्धि विधान कार्य ही व्यर्थ होता। अतः इस प्रकार के अर्थ असमीचीन या अनभी[ष्ट] समझकर आगे के सूत्र के अर्थ को भी इसके साथ मिलाकर ही इसका अर्थ किया ग[या] है। ऐसा करने से ही यहाँ सम्पूर्ण पद का लोप प्राप्त न होकर केवल अन्तिम वर्ण '[य्]' का ही लोप प्राप्त होता है।

अलोऽन्त्यस्येति—षष्ठी विभक्ति पद का उच्चारण करके जहाँ किसी का[र्य] आदेश आदि का विधान किया जाता है; वहाँ वह आदेशादिकार्य षष्ठ्यन्त पद के द्वा[रा] उदाहरण में निर्दिष्ट शब्द के अन्तिम वर्ण को ही होता है, सम्पूर्ण पद को नहीं होता।

प्रस्तुत उदाहरण सु द्ध् य् उपास्यः' में संयोगान्तस्य लोपः, सूत्र के संयोगान्तस्य इ[स] षष्ठयन्त पद का उच्चारण कर यहाँ लोप विधान प्राप्त हुआ है, अतः यहाँ सूत्र के द्वा[रा] सम्पूर्ण पद—सु, द्, ध्, य् का लोप न होकर केवल इसके अन्तिम वर्ण य् का लोप प्रा[प्त] होगा।

जैसा कि मूल पाठ में इति 'य लोपे प्राप्ते' लिखा गया है, अर्थात् इस सूत्रानुस[ार] उक्त उदाहरण में 'य्' का लोप प्राप्त होने पर।

(वा) यण इति—संयोगान्त पद के अन्तिम वर्ण 'यण्' के लोप का निषेध अथ[वा] प्रतिषेध करना चाहिए।

तब 'सु द्ध् य् उपास्यः' इस स्थिति में 'संयोगान्तस्य लोपः' सूत्र से जो अन्ति[म] वर्ण (संयोग संज्ञक वर्णों के अन्तिम अक्षर) यण् का लोप प्राप्त हुआ था; उसका उ[क्त]

वार्तिक के द्वारा निषेध हो गया जिसके फलस्वरूप य् के लोप का निषेध हो गया। अतः य कार का लोप न होने पर स्थिति यथावत् रही—'सु द् ध् य उपास्यः'। तदनन्तर 'अज्झीनं परेण संयोज्यम्' इस सन्धि नियम के अनुसार 'स्वर रहित व्यञ्जनों का आगे के वर्णों से मिला दिये जाने पर '**सुद्ध्युपास्यः**' यह प्रथम सन्धि **प्रयोग** रूप बना किन्तु जब 'अनचि च' सूत्र से विकल्प से धकार को द्वित्व न होने पर 'सुध्युपास्यः' यह दूसरा भी सन्धि प्रयोग बनता है।

विशेष—'अनचि च' सूत्र द्वारा एक बार द्वित्व न होने का कारण यह है कि यह सूत्र विकल्प से द्वित्व करता है। अतः सूत्रवृत्ति में 'यरो द्वे वा स्तः' कहा जा चुका है। 'वा' का आशय विकल्प है अर्थात् एक बार विधि का होना तथा दूसरी बार नहीं होना। इस सूत्र की वैकल्पिकता के कारण ही यहाँ उक्त दो रूप बनते हैं।

मद्ध्वरिः—'**मधु + अरिः**' इस स्थित में यहाँ सर्वप्रथम '**इको यणचि**' सूत्र के द्वारा धकार के उत्तरवर्ती उकार के स्थान पर यण् होगा क्योंकि उ के पर में 'अ' स्वर है। इस उ के स्थान पर विधीयमान चार यण् (य्, व्, र्, ल्) वर्णों में से '**स्थानेऽन्तरमः**' सूत्र के नियमानुसार उ के सदृशतम वर्ण 'व' ही होगा क्योंकि '**उपूपहमानीयानामोष्ठौ**' वाक्यानुसर उ और व् का सवर्ण (समान) स्थान ओष्ठ है तथा शेष यण् वर्ण भिन्न स्थान के है। अतः उ के स्थान पर 'व' ओष्ठय वर्ण ही करने पर '**मध् व अरिः**' बना मध् व् अरि' इस स्थिति में '**अनचि च**' सूत्र से मकारोत्तरवर्ती अकार से परे धर् प्रत्याहारान्तर्गत वर्ण धकार को विकल्प से द्वित्व होकर '**मध्ध्व् अरि**' इस स्थिति में '**झलांजश् झशि**' सूत्रानुसार प्रथम धकार को दकार आदेश होकर '**म द् ध् व् अरिः**' इस स्थिति में 'संयोगान्तस्य लोपः' से संयोगान्त पर 'म द् ध् व्' के अन्तिम वर्ण वकार का लोप प्राप्त हुआ किन्तु 'यणः प्रतिषेधोवाच्यः' (वा०) से यण् 'व' के लोप का निषेध होकर तथा सभी स्वरहीन वर्ण व्यञ्जनों को परस्पर मिलाने पर 'मदध्वरिः' यह प्रथम सन्धि प्रयोग बना; किन्तु 'अनचि च' से वैकल्पि स्थिति में द्वितीय वार द्वित्व के अभाव में '**मध्वरिः**' यह भी दूसरा सन्धि प्रयोग बनता है। **धात्त्रांशः**—'**धातृ + अंशः**' इस स्थिति में सर्वप्रथम यहाँ 'इको यणचि' सूत्र के द्वारा इक् अर्थात् ऋकार का स्थान में यण् होगा; क्योंकि यहाँ चार प्रकार के यण् वर्णों में से 'स्थानेऽन्तरमः' सूत्र के सहयोग से ऋ के सदृशतम (सबसे अधिक समान) सवर्ण रकार है। अतः 'ऋटुरषाणांमूर्धा' के वचन से ऋ और रकार दोनों के मूर्धन्य वर्ण होने से ऋ का सदृशतम् वर्ण र वर्ण का ही आदेश होगा। इसलिए '**धातर् + अंशः**' इस स्थिति में 'अनचि च' सूत्र से तकार को विकल्प से द्वित्व होकर '**धात् त् र् + अंशः**' इस स्थिति में 'संयोगान्तस्य लोपः' से संयोगान्त पद के अन्ते का संयोग संक्षक र् वर्ण का लोप प्राप्त होने पर 'यणः प्रतिषेधो वाच्यः' वार्तिक से उस लोप का निषेध होने पर तथा परस्पर हल् वर्णों अथवा व्यञ्जनों का 'अज्झीनं परेण संयोज्यम्' के द्वारा मिलाने पर 'धात्त्रंशः' यह प्रथम सन्धि प्रयेग बनता है। किन्तु वैकल्पिक प्रयोग होने के कारण 'अनचि च' से द्वित्व के अभाव में तकार को द्वित्व न होने पर दूसरा रूप '**धात्रंशः**' यह प्रयोग भी बनता है।

लाकृतिः—लृ + आकृतिः इस स्थिति में '**इको यणचि**' सूत्र से इक् अर्थात् लृ के स्थान पर यण् के चार वर्णों (य्, व्, र्, ल्) में से सदृशतम वर्ण लृ के स्थान पर केवल ल् दन्त्य वर्ण सवर्ण 'लृतुलसानां दन्ताः' इस प्रतिज्ञा वाक्यानुसार लृ और दोनों का दन्त स्थान होने के कारण हुआ। अतः अत्यन्त सदृश होने से लृ के स्थान पर ल् ही होगा। इस प्रकार 'अज्झीनं परेण संयोज्यम्' से मिलाने पर '**लाकृतिः**' यह अभीष्ट सन्धि रूप बनता है।

विशेष १. (सुध्युपास्यः सुद्ध्युपास्यः) का अर्थ है—सुधी अर्थात् श्रेष्ठ बुद्धि वाले विद्वज्जनों के द्वारा उपास्य देव अर्थात् उपासना करने योग्य भगवान्। इसी प्रकार मद्ध्वरि का अर्थ है मधु नामक राक्षस के अरि अर्थात् शत्रु भगवान् विष्णु या श्री कृष्ण। धात्रंश का अर्थ है—ब्रह्म का अंश और लाकृतिं का अर्थ है—लृ के समान टेढ़ी (वक्र) आकृति वाले '**श्री कृष्ण**' यण् सन्धि के अभ्यासार्थ कतिपय उक्त प्रकार के अन्य उदाहरण निम्नवत् हैं—

हरि + आगमनम् = हर्यागमनम्	उपरि + उपरि = उपर्युपरि	गुरु+आगमनम् = गुर्वागमनम्
मुनि + आचारः = मुन्याचार	इति+औत्सुक्याम् = इत्यौत्सुक्यम्	मातृ + आज्ञा = मात्राज्ञा
इति + आदि = इत्यादि	दधि + आनय = दध्यानय	मातृ+आगमनम् = मात्रागमनम्
इति + आपि = इत्यपि	ऋषि+आश्रमः = ऋष्याश्रमः	पितृ + आदेशः = पित्रादेशः
अपि + एतत् = अप्येतत्	गौरी + औ = गौर्यो	मातृ + उपदेशः = मात्रुपदेशः
यदि + अपि = यद्यपि	देवी+आगमन् = देव्यागमनम्	पितृ+आगमनम् = पित्रगमनम्
प्रति + आह = प्रत्याह	नदी+अवतरितः=नद्यवतरितः	भ्रात् + आशा = भ्रात्राशा
इति + ऊचुः = इत्यूचुः	नदी + एव = नद्येव	स्वसृ + आगनम् = स्वस्रागमनम्
प्रति + एकम् = प्रत्येकम्	देवी + उपास्या = देव्युपास्या	सवतृ + उदयः = सवित्रुदय
प्रति + अक्षम् = प्रत्यक्षम्	गौरी + उत्थानम् = गौर्युत्थानम्	मातृ + आकृतिः = मात्राकृति
	मधु + अत्र = मध्वत्र	कर्तृ + आशा = कर्त्राशा
		वधू+आगमनम् = वध्वागमन
इति + उक्तम् = इत्युक्तम	वस्तु + अस्ति = वस्त्वस्ति	लृ + आकृतिः = लाकृतिः
इति + एवम् = इत्येवम्	मधु + एव = मध्वेव	
वारि + अस्ति = वार्यस्ति		

२. सदृशतमः गुण प्रमाण कृत सादृश्यों की अपेक्षा स्थान कृत सादृश्य को ही श्रेष्ठ माना जाता है, अस्तु उसे ही सदृशतम कहा गया है। इसके प्रमाण के निमित्त व्याकरणशास्त्र में यह वचन प्रमाण माना जाता है। यत्रानेक विधिमान्तर्य तत्र स्थानगर्तमान्तर्य बलीयः। स्थानकृत सादृश्य में वर्णों के उच्चारण स्थानों कण्ठ-तालु आदि समानता देखी जाती है। जिन दो वर्णों का एक ही उच्चारण स्थान होता है, वे दोनों परस्पर सदृशतम कहे जाते हैं। **सुधी + उपास्यः** इस उदाहरण में इ के स्थान पर य् होता है।

सूत्र २२—एचोऽयवायावः—६।१।७८।।

सूत्रवृत्ति—एचः क्रमाद् अय्, अव्, आय्, आव् एते स्युरचि।

सूत्र २३—यथा संख्यमनुदेशः समानाम्—१।३।१०।।

सूत्रवृत्ति—समसम्बन्धी विधिर्यथासंख्यंस्यात्। हरये, विष्णवे, नायकः, पावकः।

सूत्र २४—वान्तो यि प्रत्यये—६।१।७६।।

सूत्रवृत्ति—यकारादौ प्रत्यये परे ओदोतोररव् आव् एतौ स्तः। गव्यम्, नाव्यम्

वार्तिक (वा) अध्व परिमाणे च।गंव्यूतिः।

क्योंकि के इन दोनों वर्णों का उच्चारण स्थान तालु है। अतः दोनों परस्पर सदृशतम हैं। सन्धि प्रकरणवत् अन्यत्र भी सादृश्य की यही व्यवस्था है।

एच इति—एच् अर्थात् एच् प्रत्याहारान्तर्गत ए, ओ, ऐ, औ के स्थान पर क्रम से अय्, अव्, आय्, आव् आदेश हों, जब कि उनके आगे (बाद में) कोई स्वर (अच्) विद्यमान हो।

'एचोऽयवायावः' सूत्र के द्वारा विधीयमान अय् आदि आदेश किस स्थानी के स्थान पर कौन से आदेश हों; इस शंका के समाधानार्थ अग्रिम नियामक सूत्र है।

यथा संख्यमिति—जहाँ सम सम्बन्धी विधि होती है, वहाँ वह यथासंख्य होती है अर्थात् जहाँ स्थानी और आदेश समान संख्याक होते हैं; वहाँ पर वे आदेश यथाक्रम (क्रमानुसार) होते हैं। प्रथम स्थानी के स्थान पर प्रथम आदेश, द्वितीय स्थानी के स्थान पर द्वितीय आदेश तथा तृतीय स्थान पर तृतीय और चतुर्थ स्थानी के स्थान पर चतुर्थ आदेश होंगे।

यहाँ उपर्युक्त सूत्र सं. २२ में चार स्थानी (ए, ओ, ऐ, औ) है तथा चार ही आदेश (अय्, अव्, आय्, आव्) हैं। अतः 'यथासंख्य', इत्यादि सूत्रानुसार अर्थात् उसके नियम से इनको यथाक्रम (क्रमशः) विधान समझ लेना चाहिये। अस्तु ए के स्थान पर अय्, ओ के स्थान पर अव् तथा ऐ के स्थान पर आय् एवम् औ के स्थान पर आव् आदेश होंगे।

हरये—'हरे + ए' इस स्थिति में 'हरे' में अन्तिम स्वर ए के स्थान पर एचोऽयवायावः सूत्र के द्वारा अय् आदेश होगा; क्योंकि उससे परे स्वर ए आया है। अतः '**यथा संख्यां**' के नियम से आदेश क्रमशः होने से अय् आदेश ही होगा। अस्तुः 'हर् आय् ए' को 'अज्झीनं परेण' के नियम से परस्पर मिलाने पर '**हरये**' यह अभीष्ट सन्धि रूप सिद्ध हुआ।

विष्णवे—'विष्णो + ए' इस स्थिति में ओकार रूप एच् से परे (बाद में) स्वर एकार आया है। अतः 'एचोऽयवायावः' सूत्र के नियम से स्थानी ओ के स्थान पर अयादि आदेश 'यथा संख्यामनुदेशः समानाम्' सूत्र के नियम से क्रमशः अथवा क्रमानुसार करने पर एच् अथवा ओ के स्थान पर 'अव' आदेश हो गया। तब 'विष्ण् अव् ए' इस

स्थिति में 'अज्झीनं परेण संयोज्यम' के नियम से स्वर हीन व्यञ्जनों को पर अर्थात् बाद के वर्णों से मिलाने पर '**विष्णवे**' यह अभीष्ट सन्धि रूप सिद्ध हुआ।

नायकः 'नै + अकः' इस स्थिति में नकारोत्तरवर्ती ऐकार (एच्) के बाद में अथवा पर में 'अकः' का अकार (स्वर) के स्थान पर 'यथासंख्यां' के नियम से यथाक्रम (क्रमानुसर) 'आय्' आदेश हो गया। तब 'न् आय् अकः' इस स्थिति में 'अज्झीनं' के नियम से स्वरहीन वर्णों को परस्पर मिलाने पर '**नायकः**' यह अभीष्ट सन्धि रूप सिद्ध हुआ।

पावकः—'पौ + अकः' इस स्थिति में पकारोत्तवर्ती औ (एच् प्रत्याहारान्तर्गत) स्वर से परे (बाद में) 'अकः' का 'अ' स्वर आया है। अतः स्थानीय 'औ' के स्थान पर 'एचोऽयवायावः' सूत्र के नियम से 'यथासंख्यां' इत्यादिसूत्रानुसार यथाक्रम 'आव' आदेश की प्रवृत्ति हो गयी। तब 'प् आव अकः' इस स्थिति में 'अज्झीनंपरेण संयोज्यम' इस सन्धि मेल के नियम से स्वरहीन वर्णों को परस्पर पर वर्ण से मिलाने पर 'पावकः' यह अभीष्ट सन्धि रूप सिद्ध हुआ।

वान्तो यि०—यकारादि प्रत्यय के परे (बाद में) रहने पर। अव्, आव् आदेश की प्रवृत्ति भी अयादि सन्धि के प्रकरण में जाननी चाहिए। अर्थात् 'ओ–औ' के स्थान पर अव्–आव् आदेश हों, जब यकार प्रत्यय परे हों।

गव्यम्—'गो + यम्' इस स्थिति में यहाँ गकारोत्तरवर्ती ओकर का स्वर आया है तथा उससे परे 'यम्' यकारादि प्रत्यय है। अतः '**वान्तोयि प्रत्यये**' सूत्र के नियम से यहाँ 'अव्' आदेश हो गया। अस्तु ग् अव् यम्' इस स्थिति में 'अज्झीनं' के सन्धि मेल के विधान से परस्पर मिलाने पर '**गव्यम्**' यह अभीष्ट सन्धि रूप सिद्ध हुआ।

नाव्यम्—'नौ + यम्' इस स्थिति में यहाँ नकारोत्तरवर्ती औ से परे 'यम्' यकारादि प्रत्यय आया है। अतः 'वान्तोयि प्रत्यये' सूत्र के नियम की प्रवृत्ति करने पर औ स्थानी के स्थान पर 'आव्' आदेश हो गया। अतः 'न् आव् यम्' इस स्थिति में अज्झीनं परेण संयोयम् इस सन्धि मेल के निमय से परस्पर मिलाने पर 'नाव्यम्' यह अभीष्ट सन्धि रूप सिद्ध हुआ।

अध्व परि०—अध्व अर्थात् मार्ग के परिणाम अथवा नाप वाच्य (अर्थ) के प्रयोगवाची शब्द होने की अवस्था में गो शब्द को 'यूति' शब्द के परे 'वान्त' आदेश हो अर्थात् मार्गवाची शब्द के प्रयोग में जब गो शब्द से परे 'यूति' शब्द आये; तब वान्त अर्थात् अव्, आव् आदेश उक्त वार्तिक की सहायता से हो जाता है। जैसे—

गव्यूतिः—(दो कोस का मार्ग) गो + यूतिः इस अवस्था में अध्व परिमाणे च' इस वार्तिक के द्वारा गो शब्द से परे 'यूतिः' होने पर गकारोत्तरवर्ती 'ओ' के स्थान पर अव् आदेश होने पर 'ग् अव् यूतिः' बना तब 'अज्झीनं परेण संयोज्यम्' से स्वरहीन व्यंजनों को पर वर्ण से मिलाने पर 'गव्यूतिः' यह सन्धि रूप सिद्ध हुआ।

(गुण संज्ञा विधायकं सूत्रम्)

सूत्र २५—अदेङ्गुणः—१।१।२।।

सूत्रवृत्ति—अत एङ् च गुणसंज्ञः स्यात्।

(तपर नियम सूत्रम्)

सूत्र २६—तपरस्तत्कालस्य—१।१।७०।।

सूत्रवृत्ति—तः परो यस्मात् स च, तात्परश्चोच्चार्यमाणसमकालस्यैव संज्ञा स्यात्।

विशेष १. 'अयादि' सन्धि विधान की प्रक्रिया में एच् (ए, ओ, ऐ, औ) से परे किसी स्वर के आने पर ही आय आदि आदेश होते हैं, किन्तु यकरादि प्रत्यय परे होने पर 'वान्तो यि प्रत्यये', सूत्र से केवल 'अव्, आव्' (वान्त) आदेश के विधान द्वारा गव्यम्' तथा नाव्यम्' सन्धि रूप सिद्ध होते हैं।

अतएव उक्त दोनों उदाहरणों में 'एचो ऽयवायावः' सूत्र से अव्, आव्' आदेश नहीं हो सकते क्योंकि यहाँ स्वर परे अथवा आगे (बाद में) नहीं है।

२. वान्त आदेश के ही विषय में मार्गवाची अर्थ का प्रयोजक 'गव्यूतिः' शब्द है। अतः इसमें भी 'एचोऽयवायावः' सूत्र से सन्धि कार्य न हो सकने के कारण अध्वपरि मापोच (वार्तिक) की आवश्यकता पड़ती है। अतः इसी की सहायता से गो से परे यूतिः' शब्द आने पर वान्त आदेश की विधि प्रयुक्त होकर 'गव्यूतिः' सन्धि रूप बनता है।

अदेङिति—अत् अथवा ह्रस्व अकार और एङ् अर्थात् 'ए' और 'ओ'की गुण संज्ञा होती है। संक्षेपतः 'अ, ए, ओ' इन तीनों को गुण कहा जाता है, क्योंकि इन तीनों वर्णों की गुण संज्ञा होती है।

तपर इति—तकार (त्) हो पर में जिससे अथवा जिसके आगे (बाद में) लकार हो, वह ऐसे उच्चार्यमाण स्वर की अर्थात समकालिक स्वर की ही संज्ञा का बोधक होता है। अर्थात् उस वर्ण के उच्चारण में जितना समय लगना चाहिये वह उतने ही समय का बोध होगा, न उससे कम और न अधिक का। परिणामतः यदि ह्रस्व स्वर से परे त् लगा है तो वह ह्रस्व स्वर का ही बोधक होगा, न कि प्लुत स्वर का या दीर्घ स्वर का ग्रहण करायेगा। यथावत् स्वर के ग्रहण की व्यवस्था तपरक व्यवस्था व्याकरणशास्त्र में की गयी है। इसे ही सही स्वर ग्रहण की परक व्यवस्था कहते हैं। जैसे—'अत्' उदाहरण में 'अ' से परे तकार (त्) आया है तो वह ह्रस्व अकार के ही समकालिक संज्ञा का बोधक होगा।

विशेष (१)—यदि सही स्वर ग्रहण के लिए तपरक व्यवस्था के नियम होता तो व्याकरणशास्त्र में अकारादि को अठारह प्रकार का ग्रहण किया जाता और यथावत् ह्रस्वादि अकार की ज्ञापकता सम्भव नहीं हो पाती है। अतः तपरकरण विधि की विधि की उपयोगिता सिद्ध होती है।

सूत्र २७—अद् गुणः—६।१।८७।।

सूत्रवृत्ति--अवर्णदचि परे पूर्वपरयोरेको गुणादेशः स्यात्।

उपेन्द्रः। गंगोदकम्।

(इत्यंज्ञाविधायंक सूत्रम)

सूत्र २८—उपदेशऽजनुनासिक इत्—२।३।२।।

सूत्रवृत्ति—उपदेशेऽनुनासिको इत्—२।३।२।।

सूत्रवृत्ति—उपदेशेऽनुनासिकोऽजित्संज्ञः स्यात्। प्रतिज्ञाननासिकयाः पाणिनीया। ल
सूत्रस्थावर्णेनसहोच्चार्यमाणे रेफो रलयोः संज्ञा।

---

२. 'गुण' संज्ञाबोधक शब्द व्याकरणशास्त्र में एक परिभाषिक शब्द है। जिस
सन्धि प्रकरण में इस गुण शब्द से अ, ए, ओ, इन्हीं तीनों वर्णों का बोध होता है
जैसे—'रमा + ईश' इस स्थिति में 'आ + ई' को मिलाकर 'ए' गुण हो जाता है अ
'रमेश' यह सन्धि रूप सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार सूर्य + उदय = सूर्योदयः इ
स्थिति में 'अ + उ' मिलाकर गुण **'ओ'** होता है। अतः सूर्योदयः यह सन्धि रूप बन
है।

आद्गुण इति—अ वर्ण से परे अथवा बाद में स्वर आने पर या आगे रहने पर प
और पर वर्ण के स्थान पर मिलकर एक गुण आदेश हो।

विशेष—यहाँ यह ध्यातव्य (ध्यान देने योग्य) है कि अ, ए, ओ स्वरों की ग
संज्ञा है। अतः इन तीनों में से किसी एक स्वर का दो स्वरों के स्थान पर आदेश हो
है।

जैसे—उप + इन्द्रः = उपेन्द्रः; गंगा + उदकम् = गंगोदकम्।

उपेन्द्रः—(विष्णु) 'उप + इन्द्रः' इस स्थिति में पकारोत्तरवर्ती अ वर्ण से परे य
इन्द्र का इ स्वर आया है; अतः 'आद् गुणः' सूत्र से 'अ + इ' इन दोनों पूर्व-पर वर्णों
स्थान पर एक गुण रूप आदेश होगा, परन्तु यहाँ सन्देह यह उठता है कि गुण वाच
तीन स्वर अ, ए, ओ, हैं तो इनमें से कौन-सा वर्ण होना चाहिए। अस्तुः इस प्रश्न
निवारण या समाधान के लिए यहाँ स्थान कृत सदृश्य को आधार मानकर 'अ + इ' द
के स्थान पर 'ए' गुण होगा क्योंकि अ का स्थान कण्ठ है और 'इ' का स्थान तालु
अस्तु; दोनों का मिलकर कण्ठ तालु स्थान वाला कोई वर्ण होना चाहिए, उक्त तीनों व
में से गुण संज्ञक आदेश 'ए' ही ऐसा वर्ण है जिसका उच्चारण स्थान कण्ठ तालु
अतः दोनों 'अ + इ' के स्थान पर 'ए' गुण का आदेश होकर उपेन्द्र यह सन्धि रू
सिद्ध होता है।

गंगोदकम्—(गंगाजल) 'गंगा + उदकम्' इस स्थिति में गंगा के अन्तिम य
उत्तरवर्ती स्वर आ वर्ण से परे 'उदकम्' का 'उ' आया है अतः 'आ + उ' दोनों के स्था

पर यहाँ 'ओ' गुण आदेश होगा क्योंकि यहाँ कण्ठ स्थानीय 'आ' है तथा ओष्ठ स्थानीय 'उ' हैं। अतः दोनों के स्थान पर कण्ठौष्ठ स्थानीय वर्ण ओ ही गुण सदृशतम आदेश होगा। जो स्थानकृत साद्श्य को भी धारण करता है। अतः **'गंगोदकम्'** यह अभीष्ट सन्धि रूप सिद्ध होता है।

विशेष—यहाँ उक्त उदाहरण में 'ओ' गुण आदेश के अतिरिक्त शेष अन्य गुण वर्णों के साथ स्थानकृत सादृश्य नहीं है। अतः 'अ + उ' के स्थान पर 'ओ' गुण का ही स्थानीय सादृश्य होने के कारण आदेश सर्वथा युक्ति संगत और उचित है।

इसी प्रकार के अन्य उदाहरण निम्नवत् हैं—

देव + इन्द्रः = देवेन्द्रः, सुर + ईश्वरः = सुरेश्वरः धन + इश्वरः = धनेश्वरः, विश्व + इर्शः = विश्वेशः, उमाः + ईशः = उमेशः, राम + ईश्वरः = रामेश्वरः, महा + ईश्वरः = महेश्वरः, सर्व + ईशः = सर्वेशः, दिन + उदयः = दिनोदयः, पुरुष + उत्तमः = पुरुषोत्तमः, तिल + उदकम् = तिलोदकम्, शिला + उच्चयः = शिलोच्चयः, नवा + ऊढा = नवोढा, सा + उवाच = सोवाच, तदा + उक्तम् = तदोक्तम्, तव + उदय = तवोदयः, तव + उरुः = तवोरुः।

उपदेश इति—उपदेश अवस्था में जो अच (स्वरूप) अनुनासिक हो, उसकी इत्संज्ञा हो अर्थात् उपदेश काल में जो स्वर अनुनासिक पढ़ा गया हो, उसकी इस सूत्र से इत् संज्ञा का विधान किया जाता है। उपदेश का अर्थ है—'उपदेश आद्योच्चारणम्' अर्थात् पाणिनि, कात्यायन एवं पतञ्जलि इन तीनों मुनियों का जो प्रथमउच्चारण (प्राचीन काल में किया गया कथन है) उसे उपदेश कहते हैं। धातु-सूत्र, गण, उणदि, अगम प्रत्यय, आदेश, लिंगानुसान आदि को उपदेश कहा जाता है। इसी उपदेश अवस्था में जिन स्वरों को अनुनासिक पढ़ा गया है, उनकी उक्त सूत्र से इत् संज्ञा होती है।

प्रतिज्ञाति—पाणिनि द्वारा जिन वर्णों को अनुनासिक कहा गया है; उनका ज्ञान हमें प्रतिज्ञा से ही हो सकता है। तात्पर्य है कि किसी भी वर्ण का अनुनासिक अथवा निरनुनासिक होना प्रतिज्ञा से ही जाना जा सकता है। हो सकता है कि किसी समय अनुनासिक वर्णों पर कोई विशेष चिन्ह रहा हो; परन्तु आज वह चिन्ह लुप्त हो चुका है। अतः अब किसी वर्ण के अनुनासिक होने का पता केवल प्रतिज्ञा से ही चल सकता है। अन्य कोई उपाय नहीं है।

विशेष १. माहेशवर सूत्रों के 'लण्' सूत्र में लँ को ऐसा अनुनासिक अनुदात्त मानकर ही ल के अकार की इत्संज्ञा की गयी है। यह पाणिनीय वैयाकरणों की परम्परा प्राप्त पद्धति है; जो इस समय लेखन में दृष्टिगोचर नहीं होती।

२. प्रतिज्ञा शब्द का यही अर्थ ज्ञात होता है कि यह ऐसा ही है इस प्रकार का कथन अर्थात् अब किसी वर्ण के अनुनासिक होने का ज्ञान केवल तत्सम्बन्धी निर्देशों से ही सम्भव हो सकता है; अन्यथा नहीं।

सूत्र २९—उरण् रपरः—१।१।५१।।

सूत्रवृत्ति—ऋ इति त्रिंशतः संज्ञेत्युक्तम्। तत्स्थानेयोऽच् स रपरः। सन्नेव प्रवर्तते। कृष्णर्द्धिः। तवल्कारः।

---

३. 'उपदेशेऽजनुनासिकइत्' सूत्र से जो इत्संज्ञा होती है। वह अनुनासिक अच् (स्वर) की ही इत्संज्ञा करने का विधान किया गया है—जैसे सु प्रत्यय (प्र. वि. ए. वचन) के उकार की उक्त सूत्र से ही इत्संज्ञा और उसका लोप किया जाता है तथा उसके बाद 'रामः' पद की सिद्धि प्रक्रिया में सकार को रुत्व विसर्ग का विधान किया जाता है, किन्तु वही स्वर यदि निरनुसासिक होता तो कहीं तो इसकी इत्संज्ञा का अभाव देखने को मिलता और कहीं सु के ही रूप में दिखलाई पड़ता।

४. उदाहरण के लिए स्वयं महर्षि पाणिनि ने 'प्रत्ययः परश्च' सूत्रों में प्रथमा विभक्ति का प्रयोग कर यही निर्देश किया है कि प्रथमा विभक्ति के एक वचन के प्रत्यय सु के उ की इत्संज्ञा होती है क्योंकि यह अनुनासिक है। जब कि सप्तमी विभक्ति के बहुवचन के प्रत्यय 'सुप्' के उकार की कहीं भी इत्संज्ञा नहीं होती, क्योंकि वह निरनुनासिक है अतः वह 'सु' सर्वत्र इसी रूप में देखा जाता है। इस प्रकार इस सुप् के उकार को 'बहुषु बहुवचनम्' आदि सूत्रों के निर्देश से यथावत् प्रयुक्त किया जाता है अर्थात् उसे 'सु' के रूप में ही रहने दिया जाता है।

लण् सूत्र स्थेति—माहेश्वरसूत्रस्थ 'लण' सूत्र में वर्तमान अवर्ण के साथ उच्चार्यमाण रेफ् अर्थात् र, जो हयवरट्, सूत्र में देखा जाता है, वह र् और ल् दोनों का बोधक है।

विशेष—माहेश्वर सूत्रों के व्यञ्जन वर्णों में जो अकार होता है, वह तो केवल उच्चारण की सुविधा हेतु है, अन्यथा अर्द्धमात्रिक व्यञ्जनों का स्पष्ट उच्चारण नहीं हो पाता किन्तु 'लण्' सूत्र में जो ल से परे अ है वह इत्संज्ञक है। उसकी इत्संज्ञा का प्रयोजन रल् प्रत्याहार की सिद्धि करना है क्योंकि कोई भी प्रत्याहार भ्—इत्संज्ञक वर्ण के साथ ही बनता है। इसका प्रयोजक उरण् र परः सूत्र है।

उरणइति—(उः + अण् रपरः) ऋकार तीस प्रकार की संज्ञा वाला होती है अर्थात् ऋकार के तीस भेद कहे जा चुके हैं। ऐसे अर्थात् तीस प्रकार के ऋ के स्थान पर अण् (अ, इ, उ) आदेश हो। कहने का तात्पर्य यही है कि वह अण् आदेश रपरक होकर प्रवृत्त हो अर्थात्—होने वाला अण् आदेश र को आगे करके ही होगा अथवा अण् आदेश रपरक होता है। अतः ऋ के स्थान पर 'अर्, इर्, उर्' आदेश होने का विधान किया गया है।

इसी प्रकार लृ के स्थान में 'अ' गुण का आदेश होना निर्धारित किया गया है तत्पश्चात् वह अकार का आदेश ल् को आगे या पर में लेकर आयेगा। तदनुसार अ आदेश लपरक होने के कारण उसे अल्, के रूप में लिखा जायेगा। इस प्रकार ऋ अ

सूत्र ३०—लोपः शाकल्यस्य—८।३।१९।

सूत्रवृत्ति—अवर्णपूर्वयोः पदान्तयोर्यवयोर्लोपोवाशिपरे।

(अधिकार सूत्रम्)

सूत्र ३१—पूर्वत्राऽसिद्धम्—८।२।१।।

सूत्रवृत्ति—सपादसप्ताध्यायीं प्रति त्रिपाद्य सिद्धा त्रिपाद्यामपिपूर्वं प्रति परं शास्त्रमसिद्धम्। हर इह। हरयिह। विष्णइह, विष्णविह।

लृ के स्थान में जहाँ कहीं भी अण् का विधान किया जायेगा वहाँ सर्वत्र अर् और अल् आदेश की क्रमशः व्यवस्था रहेगी।

कृष्णार्द्धि—(कृष्ण की समृद्धि) 'कृष्ण + ऋद्धि' इस स्थिति में कृष्ण के णकार के उत्तरवर्ती अ से परे ऋद्धि का ऋकार है। अतः 'आद् गुणः' सूत्र से अ + ऋ दोनों के स्थान पर गुण अ होगा किन्तु 'उरणरपरः' सूत्र से अण् रपरक का विधान होने से वह 'अर्' के रूप में होगा। अतः 'कृष्णर्द्धि' सन्धि रूप सिद्ध हुआ।

तवल्कारः—(तुम्हारा लृकार) 'तव + लृकारः' इस स्थिति में आदगुणः' सूत्र से 'अ + लृ' के स्थान पर अ गुण होगा एवं 'उरण् रपरः' सूत्र के सन्धिविधान के अनुसार वह लपरक अर्थात् 'अल्' के रूप में आदेश होगा। तब दोनों का मिलकर 'तवल्कारः' यह अभीष्ट सन्धि रूप सिद्ध होता है।

लोप इति—अ वर्ण अर्थात् अकार और आकार पूर्वक जो पदान्त यकार और वकार उनका लोप हो विकल्प से, अश् वर्णों के आगे रहने पर।

विशेष—शाकल्य नामक एक वैयाकरण आचार्य हुए हैं, इनके मत से अवर्ण पूर्वक पदान्त यकार और वकार का लोप होता है, परन्तु आचार्य पाणिनि के मत से नहीं। अतएव सूत्र वृत्ति में 'वा' लिखकर यकार, वकार लोप को वैकल्पिक बतलाया गया है, अर्थात् य् व् का लोप वैकल्पिक अथवा विकल्पतः ही होगा।

पूर्वत्राति—पाणिनिकृत अष्टाध्यायी के सवाँ सात अध्याय अर्थात् सात अध्याय और आठवें अध्याय का प्रथमपाद के सूत्रों के प्रति त्रिपादी अर्थात् आठवें अध्याय के द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ इन तीनों पादों के सूत्र असिद्ध हैं और त्रिपादी में भी पूर्ववर्ती सूत्र के प्रति परवर्ती सूत्र असिद्ध हैं। यहाँ शास्त्र पद से सूत्र ही जानने चाहिए।

विशेष—पाणिनिकृत अष्टाध्यायी में आठ अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय चार-चार अध्यायों में विभक्त हैं। प्रत्येक सूत्र के आगे जो संख्या दी गई, वह अष्टाध्यायी के सूत्रों के अध्याय पाद तथा सूत्र संख्या बनाने के लिये हैं; जैसे—'लोपः शाकल्यस्य' सूत्र के आगे ८।३।१९ संख्या दी हुई है; अतः इसका तात्पर्य यह है कि आठवें अध्याय, के तीसरे पाद का उन्नीसवाँ सूत्र है। सूत्र के आगे दी गई संख्या का सर्वत्र यही प्रयोजन है।

'पूर्वत्रासिद्धम्' की सरल एवं विस्तृत व्याख्या—प्रस्तुत सूत्र में असिद्ध से तात्पर्य यह है कि अष्टाध्यायी के सात अध्यायों के अन्तर्गत आने वाले सूत्रों के प्रति शेष त्रिपादी के सूत्र असिद्ध हो जाता है। अर्थात् त्रिपादी के सूत्रों द्वारा किया गया कार्य सपाद सप्ताध्यायी के सूत्रों की दृष्टि से असिद्ध हो जाता है अर्थात् न किया हुआ ही माना जाता है और यह व्यर्थ होता है। इसी प्रकार त्रिपादी के अर्थात् आठवें अध्याय के शेष तीन पादों के सूत्रों में भी पूर्व सूत्रों के प्रति पर सूत्रों के कार्य असिद्ध हो जाता है। पूर्व सूत्र परवर्ती सूत्रों के कार्यों को दखते ही नहीं उनकी दृष्टि में वेव्यर्थ ही हो जाते हैं।

त्रिपादी के समान सपाद सप्ताध्यायी के सूत्रों का ज्ञान उनके आगे दी गयी सूत्रों की संख्या से हो सकता है। इस संख्या के अनुसर '**आद्गुणः**' और उरण् रपरः आदि सूत्र तो सपाद सप्ताध्यायी के सूत्र होंगे। अपने आगे दी हुई संख्या के अनुसार त्रिपादी में भी 'पूर्वत्रासिद्धम्' सूत्र की अपेक्षा लोपः शाकल्यस्य सूत्र परवर्ती सूत्र है। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिए।

विशेष—'पूर्वत्रासिद्धम्' वस्तुतः अधिकार सूत्र है। परिणामतः यह अपने से आगे के प्रत्येक सूत्र में जाकर अपने अधिकार से यह बतलाता है कि तुम अपने पूर्ववर्ती सूत्र के प्रति असिद्ध होः अर्थात् अमुक सूत्र द्वारा किया हुआ कार्य उस सूत्र से पूर्ववर्ती सूत्र को मान्य न होगा अर्थात वह व्यर्थ हो जायेगा। साथ ही यह नियम सूत्र भी है; अतः यह नियम को भी बतलाता है कि जितने भी सप्ताध्यायी के सूत्र हैं, उनकी दृष्टि में त्रिपादी के सूत्रों द्वारा किया गया कार्य भी नगण्य है अथवा व्यर्थ है, न किये गये कार्य के समान हैं।

हर इह—'हरे + इह' इस स्थिति में रकारोत्तरवर्ती एकार (एच्) से परे स्वर इह का इ है। अतः 'एचोऽयवायावः' सूत्र से ए के स्थान पर 'अय्' आदेश हो गया। तब 'हर्अय् इह' इस स्थिति में अवर्ण पूर्वक पदान्त य् का अश् प्रत्याहारान्तर्गत इ के आगे रहने पर 'लोपः शाकल्यस्य' सूत्र से 'य्' का लोप हो गया तब 'हर् अ इह' परस्पर मिलकर 'हर इह' सन्धि रूप बना किन्तु 'लोपः शाकल्यस्य' सूत्र से लोप वैकल्पिक होने से लोप न होकर '**हरयिह**' पक्ष में यह भी दूसरा रूप बनता है।

विशेष—'हर इह' सन्धि रूप में 'आद् गुण' सूत्र से गुण कार्य 'पूर्वत्रासिद्धम्' सूत्र से अमान्य होकर यह यथावत् ही रहता है।

'विष्ण इह'—'विष्णो + इह' इस स्थिति में 'एचोऽयवायावः' सूत्र से विष्णो के ओकार (एच्) के स्थान पर 'अव्' आदेश होकर 'विष्ण् अव् इह' इस स्थिति में लोपः शाकल्यस्य' वकार का विकल्प से लोप का कार्य होकर 'विष्ण् अ इह' इस स्थिति में णकार से अकार को मिलाकर 'विष्ण इह' सन्धि रूप बना; किन्तु लोपकार्य वैकल्पिक होने से लोप न होकर पक्ष में 'विष्णविह' यह भी सन्धि का द्वितीय रूप बनता है।

(वृद्धिसंज्ञाविधायकं सूत्रम्)

सूत्र ३२—वृद्धिरादैच्—१।१।१।।

सूत्रवृत्ति—आदैच् वृद्धिसंज्ञः स्यात्।

सूत्र ३३—वृद्धिरेचि—६।२।८८।।

सूत्रवृत्ति—आदेचि परे वृद्धिरेकादेशः स्यात्। गुणापवादः। कृष्णैकत्वम्। गङ्गौघः। देवैश्वर्यम्। कृष्णौत्कण्ठ्यम्।।

विशेष १. यकार् और वकार् का लोप शाकल्याचार्य के मत से होने पर जो 'हर इह' और 'विष्ण इह' सन्धि रूप बनते हैं, उनमें 'आद् गुणः' सूत्र से अ + इ = ए गुण प्राप्त होता है किन्तु 'पूर्वत्रासिद्धम्' इस अधिकार सूत्र से गुण कार्य का निषेध हो जाता है। क्योंकि आद्गुणः 'सपादसप्ताध्यायी' की दृष्टि में लोपः शाकल्यस्य' त्रिपादी सूत्र के द्वारा यहाँ किया गया लोप-रूप कार्य असिद्ध हो जायेगा और 'आद्गुणः' सूत्र की दृष्टि में मानो लोप कार्य हुआ ही नहीं। अतः वहाँ दोनों स्थानों में य् और व् विद्यमान होंगे, जबकि यकार वकार का लोप असिद्ध मान लिया जायेगा। तब 'आद् गुणः' सूत्र को स्वर आगे नहीं मिलेगा, परन्तु उसके द्वारा सम्भावित गुण नहीं हो सकेगा और उक्त दोनों ही प्रकार के रूप यथावस्थित ही बने रहेंगे।

२. यदि 'पूर्व त्रासिद्धम्' सूत्र का नियम नहीं होता तो यहाँ दोनों स्थानों पर गुण होकर अनिष्ट रूप बनने लगते। अस्तुः 'पूर्वत्रासिद्धम्' सूत्र के नियम क यही प्रयोजन सूचित होता है।

३. अधिकार सूत्र का महत्त्व—अधिकार सूत्र वे होते हैं जो सूत्र स्वयं किसी कार्य विशेष का विधान न कर के अपने अधिकार क्षेत्र के सूत्रों में अर्थात् जहाँ तक उनका अधिकार होता है वहाँ तक के सूत्रों में जाकर उनके लिए विशेष नियमों का निर्धारण करते हैं; जैसा कि यह 'पूर्वत्रासिद्धम्' सूत्र सभी त्रिपादी के सूत्रों में जाकर नियम निर्धारित करता है; अतः यह अधिकार सूत्र के साथ-साथ नियम सूत्र भी कहा जाता है।

अतिरिक्त उदाहरण—ते + आसन् = त आसन् (तयासन्), ते + इह = त इह (तयिह), एते + आगताः = एत आगताः = एतयागता, प्रभो + एहि = प्रभ एहि (प्रभवेहि), तस्मै + उक्तम् तस्मा उक्तम् (तस्मायुक्तम्) विधौ + उदिते = विधा उदिते (विधावुदिते), तौ + इह = ता इह (ताविह)।

वृद्धिरिति—आकार और ऐच् अर्थात् ऐ, औ की वृद्धि संज्ञा होती है। अतः आ, ऐ, औ इन तीन को वृद्धि कहा जाता है। यहाँ यह भी ध्यातव्य है क 'उरण रपरः' सूत्र के नियमानुसर जहाँ कहीं ऋ के स्थान में आ वृद्धि होगी, वहाँ उसे 'आर' समझा जाना चाहिए। इसी प्रकार लृ के स्थान में आ वृद्धि होगी तब वहाँ उसे 'आल्' समझना चाहिए। उदाहरणार्थ—प्र + ऋच्छति = 'प्रार्च्छति' बनता है क्योंकि अ + ऋ के स्थान

पर होने वाली 'आ' वृद्धि रपरक होने से 'आर' होगी। इसी प्रकार 'प्र + लृकारीयति' इस स्थिति में 'अ + लृ' के स्थान पर 'आल्' वृद्धि होकर 'प्राल्कारीयति' सन्धि रूप सिद्ध होता है।

वृद्धिरेचि—अ वर्ण से परे एच् (ए, ओ, ऐ, औ) आने पर पूर्व–पर के स्थान पर वृद्धि रूप एकादेश हो जाता है।

विशेष १. आर् तथा आल् से तथा औ को वृद्धि संज्ञा 'वृद्धिरादैच्' सूत्र द्वारा की जाती है। यह सूत्र पाणिनिकृत अष्टाध्यायी का प्रथम सूत्र है। अत एव इसके आगे १।१।१।। संख्या अंकित की गयी है। इसी सूत्र को सर्वप्रथम रखने का प्रयोज्य ग्रन्थारम्भ की स्थिति में मंगलाचरण की सूचना देना है, क्योंकि वृद्धि शब्द मंगल का सूचक है।

२. वृद्धि के सन्धि रूप को निम्नवत् समझना चाहिए—

अ अथवा आ + ए अथवा ऐ = ऐ, अ अथवा आ + ओ अथवा औ = औ, अ अथवा आ + ऋ = आर्, अ अथवा आ + लृ = आल्, वृद्धि का यही क्रम है।

गुणापवादः—वृद्धि का सूत्र नियम गुण का अपवाद है। अपवाद की परिभषा है—निरवकाशोविधिरपवादो भवति अर्थात् जिस किसी गुण वृद्धि आदि कार्य को अपने कार्य विधान करने के लिए कहीं अवकाश नहीं रह जाता है अर्थात् अन्य विधियों के मध्य में आ जाने से अपने कार्य के लिए अवसर या स्थान नहीं मिल पाता तो ऐसी निरवकाश विधि उस विधि को जो रुकावट डालने वाली विधि होती है, उसे अपवाद बनाती है। वृद्धिरेचि सूत्र अवर्ण से परे रपर आने पर वृद्धि कर देता है तथा आद्गुणः सूत्र के गुण कार्य को रोक देता है। अतः—

कृष्णैकत्वम्—(कृष्ण की एकता) 'कृष्ण + एकत्वम्' इस स्थिति में कृष्ण शब्द के णकारोत्तरवर्ती अ वर्ण से परे एकत्वम् का एकार परे रहने पर 'वृद्धिरेचि' सूत्र से 'अ + ए' अर्थात् पूर्व–पर के स्थान पर वृद्धि एकादेश 'ऐ' हो जाने पर 'कृष्णैकत्वम्' यह अभीष्ट सन्धि रूप सिद्ध हुआ।

गङ्गौघः—(गंगा का प्रवाह) 'गंगा + ओघः' इस स्थिति में 'आ + ओ' अर्थात् गङ्गा के आ वर्ण से परे ओघः के 'ओ' (एच्) परे रहने पर 'वृद्धिरेचि' सूत्र के नियम से पूर्व–पर के स्थान पर वृद्धि एकादेश 'औ' हो जाने पर 'गंगौघः' यह अभीष्ट सन्धि रूप सिद्ध हुआ।

दैवैश्वर्यम्—(देव का ऐश्वर्य) 'देव + ऐश्वर्यम्' इस स्थिति में वकारोत्तरवर्ती अ वर्ण से परे ऐश्वर्यम् के 'ऐ' के आने पर 'वृद्धिरेचि' सूत्र के नियम से 'अ + ऐ' अर्थात् पूर्व–पर के स्थान पर 'ऐ' वृद्धि एकादेश होकर 'देवैश्वर्यम्' अभीष्ट सन्धि रूप सिद्ध हुआ।

सूत्र ३४—एत्येधत्यूठ्सु—६।१।८९।।

सूत्रवृत्ति—अवर्णाद् एजाद्योरेत्येधत्योरूठि च परे वृद्धिरेकादेशः स्यात्। पररूप—गुणापवादः। उपैति। उपैधति। प्रष्ठौहः एजाद्योः किम्—उपतेः। मा भवान् प्रोदिधत्—

देवैश्वर्यम्—(देव का ऐश्वर्य) 'देव + ऐश्वर्यम्' इस स्थिति में वकारोत्तर वर्ती अ वर्ण से परे ऐश्वर्यम् के 'ऐ' के आने पर 'वृद्धिरेचि' सूत्र के नियम से 'अ + ऐ' अर्थात् पूर्व-पर के स्थान पर 'ऐ' वृद्धि एकादेश होकर 'दैवैश्वर्यम्' अभीष्ट सन्धि रूप सिद्ध हुआ।

कृष्णौत्कण्ठ्यम्—(कृष्ण की या कृष्णा के प्रति उत्कण्ठा) 'कृष्ण + औत्कण्ठयम्' इस स्थिति में कृष्ण के णकारोत्तरवर्ती अ वर्ण से परे 'औत्कण्ठ्यम' के औकार के रहने पर '**वृद्धिरेचि**' सूत्र से 'अ + औ' अर्थात् पूर्व पर के स्थान पर औ वृद्धि एकादेश होकर 'कृष्णौत्कण्ठ्यम' यह अभीष्ट सन्धि रूप सिद्ध हुआ।

वृद्धि सन्धि के निम्नवत् अन्य उदाहरणों के भी उक्त प्रकार से ही करें—

पञ्च + एते = पञ्चैते, तव + एकत्वम् = तवैकत्वम्। एक + एक = एकैक। तस्य + एव = तस्यैव, मम + एकः = ममैकः, तव + ऐक्यम् = तवैक्यम्; शिव + ऐश्वर्यम् = शिवैश्वर्यम्, तस्य + ओषधयः = तस्यौषधयः जल + ओघः = जलौघः, विद्या + औत्सुक्यम् = विद्यौत्युक्यम्, तव + औचित्यम् = तवौचित्यम्। विषम + औषधम् = विषमौषधम्, मम + औदासीन्यम् = ममौदासीन्यम्, तस्य + औदार्यम् = तस्यौदार्यम्, गुण + ओघः = गुणौघः।

विशेष—संज्ञासूत्र की परिभाषा—संज्ञा सूत्र वे सूत्र कहलाते हैं जो सूत्र स्वयं किसी नियम का विधान तो नहीं करते किन्तु कतिपय संज्ञाओं (नामों) का निर्धारण अवश्य करते हैं। फलतः उन संज्ञाओं से ही अन्य विधि सूत्रों की क्रिया-सिद्धि में सहायता ली जाती है। जैसे 'हलन्त्यम्' सूत्र इत संज्ञा का सूत्र है तथा 'तस्य लोपः' सूत्र इत्संज्ञक वर्ण को लोप करने वाला होने से विधि सूत्र है। इसी प्रकार 'वृद्धिरादैच्' वृद्धि संज्ञा का सूत्र है।

एत्येधत्यूठिति—अ वर्ण से एजादि 'इण्' तथा 'एध्' धातु तथा ऊठ् शब्द परे रहने पर पूर्व और पर वर्णों के स्थान पर वृद्धि एकादेश हो जाता है।

विशेष १. यह नियम पररूप और गुण सन्धियों का अपवाद है क्योंकि इस नियम के उदाहरणों में अर्थात् अपने क्षेत्र में यह पररूप एवं गुण दोनों का बाधक है। अतः सूत्रवृत्ति के अन्तर्गत 'पररूप-गुणापवादः' कहकर वरदराजाचार्य ने उक्त तथ्य का उल्लेख किया है।

२. एजादि तथा 'एध्' आदि धातुओं में इण् धातु यद्यपि इकारादि है तथापि कहीं-कहीं इसके रूप भी एकारादि हो जाते हैं, जैसे—एति, एसि, एमि आदि।

वार्तिक (वा०) अक्षादूहिन्यामुपसंख्यानम्। अक्षौहिणी सेना।

वार्तिक (वा०) प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु। प्रौहः, प्रौढः, प्रौढिः, प्रैषः, प्रैष्यः।

---

३. एध् धातु यद्यपि एकारादि है। तथापि कहीं इसका रूप इकारादि भी बनता है। जैसे इतिधत् आदि, किन्तु उक्त सूत्र इन रूपों के परे रहने पर भी वृद्धि करता है।

४. इसी प्रकार यही सूत्र ऊठ् शब्द के परे रहने पर भी वृद्धि एकादेश करता है।

उपैति—'उप + एति' इस स्थिति में उप के पकारोत्तरवर्ती अवर्ण से परे इण् धातु के एजादि रूप एति के परे रहने पर 'एत्येधत्यूठ्सु' सूत्र के नियम से (अ + ए) अर्थात् पूर्व-पर के स्थान पर 'ऐ' वृद्धि एकादेश होकर '**उपैति**' यह अभीष्ट रूप सिद्ध होता है।

उपैधते—'उप + एधते' इस स्थिति में अकार से आगे 'एध्' धातु के एजादि रूप 'एधते' के परे रहने पर 'एत्येधत्यूठ्सु' सूत्र के द्वारा 'अ + ए' अर्थात् पर्वू-पर के स्थान पर 'ऐ' वृद्धि एकादेश होकर 'उपैधते' यह अभीष्ट सन्धि रूप सिद्ध होता है।

पृष्ठौहः—'पृष्ठ + ऊहः' इस स्थिति में अ वर्ण के पश्चात् 'ऊह' शब्द के परे (आगे) रहने पर 'एत्येधत्यूठ्सु' सूत्र के नियम से पूर्व-पर के स्थान पर अर्थात् अ + ऊ को वृद्धि एकादेश 'औ' होकर 'पृष्ठौह' यह अभीष्ट सन्धि रूप सिद्ध हुआ।

एजाद्योः किमिति—इण् और एध् धातुओं के एजादि रूप के परे रहने पर ही वृद्धि होती है न कि उसके 'इत' आदि रूप के परे रहने पर हो; उदाहरणार्थ—उप + इतः = उपेतः अर्थात इस सन्धि रूप में गुण का नियम ही लागू है। अतः एजादि परे होने पर वृद्धि होती है।

इसी प्रकार 'प्रेदिधत्' 'प्र + इदिधत्' इस स्थिति में यह जो 'इतिधत्' रूप भी यद्यपि 'एध्' धातु का ही है किन्तु इसके एजादि रूप न होने के कारण इसे वृद्धि नहीं हुई। अस्तु; उक्त सूत्र संख्या ३४ का नियम इसमें लागू नहीं होगा प्रत्युत इस 'इदिधत्' के एजादि न होने से उसमें गुण 'आदगुणः' सूत्र का नियम ही लगेगा।

विशेष—'उपेतः' तथा 'प्रेदिधत' ये दोनों ही सूत्र संख्या ३४ के प्रत्युदाहरण (विरुद्ध) हैं, क्योंकि इनमें उक्त नियम नहीं लगता।

अक्षादिति—अक्ष शब्द से परे ऊहिनी शब्द के बाद में आ जाने पर प्रस्तुत वार्तिक के नियम से वृद्धि हो जाती है। जैसे—**अक्षौहिणी**—'अक्ष + ऊहिनी' इस स्थिति में गुण का अपवाद होने के कारण 'अक्षादूहिन्यामुपसंख्यानम्' इस वार्तिक के नियम से अ + ऊ अर्थात् पूर्व-पर के स्थान पर 'औ' वृद्धि एकादेश होकर 'अक्षौहिनी' रूप बनता है। 'अक्षौहिनी' इस स्थिति में 'पूर्वपदात्संज्ञायामगः' सूत्र से नकार को णकार हो जाता है।

विशेष—'अक्षौहिणी' यह युद्ध में उपयोग की जाने वाली सेना विशेष की संज्ञा है जिसके अन्तर्गत एक परिमित संख्या निर्धारित की गयी है।

(वार्तिक)—**ऋते च तृतीया समासे।**
यथा (उदाहरणम्) सुखेन ऋतः सुखार्तः। तृतीयेति किम् ?
यथा—परमर्तः।
(वार्तिक)—**प्रवत्सतरकम्बलवसनार्णदशानामृणे।**
यथा—प्रार्णम्। वत्सतरार्णम्। इत्यादि।

गज =२१८७०; **अश्व** = ५५६१०; **पैदल** = १०९३५० सैनिक।

प्रादूहोढोढिति—'प्र' उपसर्ग से परे अथवा उसके पश्चात् ऊह, ऊठ, ऊढि, एष और एष्य रहने पर 'प्रादिति' इत्यादि वार्तिक के द्वारा पूर्व-पर के स्थान पर वृद्धि एकादेश हो जाता है।

(१) प्रौहः (प्रकृष्ट चिन्तन या ऊँचा विचार) 'प्र + ऊह' इस स्थिति में 'प्रादूहोढोढ्येपैष्येषु' वार्तिक के नियम से गुण का बाध होकर 'अ + ऊ' अर्थात् पूर्व-पर के स्थान पर वृद्धि एकादेश होने पर 'प्रौहः' यह अभीष्ट सन्धि रूप सिद्ध होता है।

(२) प्रौढः—(युवावस्था को प्राप्त) 'प्र + ऊढः' इस स्थिति में 'प्रादूहोढिति०' इत्यादि वार्तिक के द्वारा 'अ + ऊ' अर्थात् पूर्व पर के स्थान पर वृद्धि एकादेश होकर 'प्रौढः' अभीष्ट रूप सिद्ध होता है।

(३) प्रौढिः—(प्रौढता) 'प्र + ऊढिः' इस स्थिति में 'प्राद्हो०' इत्यादि वार्तिक से पूर्व पर के स्थान पर वृद्धि एकादेश होकर 'प्रौढिः' अभीष्ट सन्धि रूप सिद्ध होता है।

(४) प्रैषः—(प्रेरणा) 'प्र + एषः' इस स्थिति में पूर्वपर के स्थान पर उक्त वार्तिकसे वृद्धि हो कर उक्त सन्धि रूप सिद्ध होता है।

(५) प्रैष्यः—(सेबकः) 'प्र + एष्यः' इस स्थिति में 'प्रादूहो०' (वा०) से वृद्धि होकर रूप सिद्ध होता है।

विशेष—यहाँ 'प्रादूहोढोढ्०' इत्यादि वार्तिक के प्रथम तीन उदाहरणों में तो 'आद्गुणः' सूत्र से गुण का अपवाद (बाध) होकर वृद्धि होती है किन्तु अन्तिम दो उदाहरणों (प्रैषः, प्रैष्यः) में आगे आने वाले 'एङिपररूपम्' सूत्र से पररूप प्राप्त था; पुनरपि 'प्रादूहो०' वार्तिक से उस सूत्र को बाध करके 'वृद्धिएकादेश' का ही नियम लागू होता है।

(वा०) **'ऋतेचतृतीया०'**—तृतीया समास के प्रसंग में अ वर्ण से परे ऋत शब्द आने पर पूर्व पर वर्णों के स्थान पर उक्त वार्तिक से वृद्धि हो जाती है।

सुखार्तः—(सुख से प्राप्त) सुखेन ऋतः सुखार्तः यहाँ तृतीय तत्पुरुष समास सविग्रह सूचित होता है। अतः 'सुख + ऋतः' इस स्थिति में 'ऋतेच तृतीय समासे' वार्तिक से यहाँ तृतीय समास के प्रकरण में अवर्ण से परे ऋ होने पर पूर्वपर के स्थान पर 'अ + ऋ' को 'आर्' वृद्धि एकादेश होकर **'सुखार्तः'** यह अभीष्ट सन्धि रूप सिद्ध होता है।

(उपसर्ग संज्ञा विधायकं सूत्रम्)

सूत्र ३५—उपसर्गाः क्रियायोगे।१।४।५९।।

सूत्रवृत्ति—प्राप्यः क्रियायोगे उपसर्गासंज्ञास्युः।

प्र, परा, अप, सम्, अनु, अव, निस्, निर, दुस्, दुर्, वि, आङ्, नि, अधि, अपि, अति, सु, उत, अभि, प्रति, परि, उप एते प्रादयः।

सूत्र ३६—भूवादयो धातवः—१।३।१।।

सूत्रवृत्ति—किया वाचिनोभ्वादयो धातुसंज्ञाः स्युः।

सूत्र ३७—उपसर्गादृतिधातौ—६।१।९१।।

सूत्रवृत्ति—अवर्णान्ताद्उपसर्गाद् ऋकारादौधातौ परे वृद्धिरेकादेशः स्यात्। प्राच्र्छति।

विशेष—यहाँ 'सुखार्तः' उदाहरण में 'तृतीय तत्पुरुष समास के ही कारण उक्त वार्तिक से वृद्धि होती है। अन्यथा की स्थिति में '**परमर्तः**' अर्थात् 'परम + ऋतः' उदाहरण में तृतीय का अभाव होने पर वृद्धि के नियम का निषेध हो गया क्योंकि यहाँ तृतीया समास नहीं हैं। 'परमश्चासौ ऋतः' परमर्तः कर्मधारय समास के उदाहरण में आद्गुण से गुण अर् (अ + ऋ = अर्) होकर 'परमर्तः' सन्धि रूप बनता है। अतः यहाँ वृद्धि नहीं होती।

(वा०) '**प्रवत्सतर०**'—प्र, वत्सतर, कम्बल, वसन, ऋण और दश शब्दों से परे अथवा बाद में 'ऋण' शब्द के होने पर पूर्वपर वर्णों के स्थान पर वृद्धि एकादेश होता है।

प्रार्णम् (अधिक ऋण) 'प्र + ऋण्' इस स्थिति में 'अ + ऋ' के स्थान पर 'प्रवत्सतर०' इत्यादि वार्तिक से पूर्व पर के स्थान पर वृद्धि एकादेश होकर 'प्रार्णम्' अभीष्ट रूप सिद्ध होता है।

'**वत्सतरार्णम्**'—'वत्सतर + ऋणम्' इस स्थिति में (आर्) 'अ + ऋ' को 'प्रवत्सतर०' (वा०) से वृद्धि 'आर्' हो कर 'वत्सतरार्णम्' अभीष्ट सन्धि रूप सिद्ध होता है।

विशेष—'प्रवत्सतर०' इत्यादि 'वार्तिक' से ही कम्बलार्णम् 'वसनार्णम्', ऋणार्थाम् दशार्णम इत्यादि सन्धि रूप वृद्धि एकादश 'आर्' के ही सिद्ध होंगे। उक्त उदाहरणों में यद्यपि गुण प्राप्त होता है किन्तु वार्तिक से गुण को बाध करके वृद्धि हो जाती है।

वृद्धि सन्धि के अन्य अभ्यासार्थ उदाहरण निम्नवत् है—

अव + एति = अवैति, अप + एधते = अपैधते, अव + एमि = अवैमि पर + एति = परैति, अप + एहि = अपैहि।

उपसर्गा इति—प्र, परा आदि २२ (बाईस) संख्यक उदाहरण क्रिया के योग में हों अर्थात् जिनका क्रिया से पूर्व में योग होता है; उनकी उपसर्ग संज्ञा होती है।

(पररूपसन्धि विधायकं सूत्रम)

सूत्र ३८—एङिपररूपम्—६।१।९४।।

सूत्रवृत्ति—**आदुपसर्गाद्** एङादौ धातौपरेपररूपमेकादेश सयात्।

प्रेजते। उपोषति।

भूवादय इतिः—क्रियावाची जो 'भू' आदि शब्द होते हैं, उनकी धातु संज्ञा होती है।

विशेष—यहाँ भू आदि की धातु संज्ञा क्रियावाची के अर्थ में की गयी है, न कि पृथ्वीवाची भू शब्द की अर्थात् केवल क्रिया वाचक भू शब्द का धातु नाम है, पृथ्वी वाचक भू का धातु नाम नहीं होता।

उपसर्गादृति०—अवर्णान्त उपसर्ग से परे ऋकारादिधातु के होने पर वृद्धि एकादेश हो जाता है अर्थात् उक्त नियम सूत्र (३६ संख्या) से पूर्वपर के स्थान पर वृद्धि एकादेश होता है।

प्रार्च्छति—(जाता है) **'प्र + ऋच्छति'** इस स्थिति में यहाँ 'ऋच्छति' क्रिया के योग में 'प्र' की उपसर्ग संज्ञा **'उपसर्गः क्रिया योगे' सूत्र से होने पर** तथा **'भूवादयोधातवः'** से 'ऋच्छ' धातु की भू के अन्तर्गत आने के कारण धातु संज्ञा हो गयी, तत्पश्चात् 'उपसर्गादृति धातौ' सूत्र से अवर्णान्त उपसर्ग प्र से परे ऋकारादि 'ऋच्छ' धातु के होने पर 'आर्' वृद्धि एक देश होकर 'प्रार्च्छति' यह अभीष्ट सन्धि रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार उप + ऋच्छति = उपार्च्छति, प्र + ऋच्छत् = प्रार्च्छत् आदि प्रयोग (सन्धिरूप) सिद्ध होंगे।

विशेष १. यदि अवर्णान्त उपसर्ग से परे सुब्धातु अथवा नामधातु आये तो वृद्धि विकल्प से 'सुप्यापिशते' सूत्र के नियम से होगी; जैसे—प्र + ऋषमीयति = प्रार्षमीयति (वृद्धि के पक्ष में) तथा अन्य वैकल्पिक रूप प्रर्षमीयति (गुण के पक्ष में)। ये दो रूप बनेंगे।

२. नामधातु वे कहीं जाती है, जो संज्ञा शब्दों से धातु बनकर क्रिया पद की भाँति व्यवहृत होती है किन्तु नाम धातुओं की गणना धातु पाठ में नहीं की जाती है।

एङीति—'अ' वर्णान्त उपसर्ग से परे यदि एङादि धातु आये तो पूर्व तथा पर वर्ण के स्थान पर पर रूप एकादेश हो जाता है।

('टि' संज्ञा विधायकं सूक्षम्)

सूत्र ३९—अचोऽन्त्यादि टि—१।१।६४।।

. सूत्रवृत्ति—अचांमध्येयोऽन्त्सः स आदिर्यस्यतट्टिसंज्ञः स्यात्।

(वा०) **शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्। तच्चटेः।**

शकन्धुः, कर्कन्धुः। मनीषा। आकृतिगणोऽयम्। मार्तण्डः।

विशेष—पररूप का अभिप्राय यह है कि जो पर में अर्थात् बाद में या आगे जैसा भी रूप हो, वैसा ही रूप दोनों के (पूर्व-पर के) स्थान में हो जाता है।

प्रेजते—(अधिक काँपता है) 'प्र + एजते' इस स्थिति में अकारान्त उपसर्ग प्र से परे अथवा बाद में एङादि धातु 'एजते' है। अतः प्र + एजते अथवा (अ + ए) के स्थान पर पररूप सन्धि का नियम 'एङिपररूपम्' सूत्र से केवल पररूप होकर **'प्रेजते'** यह अभीष्ट सन्धि रूप सिद्ध हुआ।

उपोषति—(जलता है) 'उप + ओषति' इस स्थिति में अवर्णान्त उपसर्ग उप से परे एङादि धातु 'ओषति' के आने पर **'एङि पररूपम्'** सूत्र से पूर्व-पर के स्थान पर पररूप (ओ) होकर **उपोषति** यह अभीष्ट सन्धि रूप सिद्ध होता है।

विशेष १. पररूप सन्धि का नियम वृद्धि सन्धि का बाधक या अपवाद है क्योंकि यह सूत्र वृद्धि के नियम पर रोक लगा देता है।

२. पररूप सन्धि के अन्य उदाहरण अभ्यासार्थ प्रस्तुत है—प्र + एषणीयम् = प्रेषणीयम्, अप + ओषति = अपोषति, प्र + एषते = प्रेषते आदि।

३. एङादि नाम धातु के परे रहने पर पररूप का नियम विकल्पतः होती है। पररूप के अभाव पक्ष में वृद्धि का नियम रहता है अन्यथा पररूप के पक्ष में सन्धि का रूप तदनुसार ही बनता है। जैसे—उप + एङकीयति = उपेङकीयति, तथा वृद्धि के पक्ष में उपैङकीयति।

४. अनिर्णयार्थक(अनिश्चतार्थक) के प्रयोग में भी पररूप ही होता है, वृद्धि नहीं होती; जैसे—पररूप के पक्ष में ('क्व एव + भोक्ष्य से' = क्वेव भोक्ष्य से); वृद्धि के पक्ष में—क्वैव भोक्ष्यसे।

अच इति—अचों अर्थात् स्वरों के मध्य में जो अन्तिम स्वर वर्ण हो और वह स्वर वर्ण जिसके आदि में हो उस समुदाय की 'टि' संज्ञा होती है। अर्थात् स्वरों के मध्य अन्तिम स्वर जिसके आदि में हों, उस वर्ण समुदाय की 'टि' संज्ञा होती है।

(वा०) **शकन्ध्वादिष्विति**—शकन्ध्वादि गण पठित शब्दों में पररूप कहना चाहिए अर्थात् शकन्ध्वादि गण में जिन शब्दों का पाठ किया गया है, उनमें पररूप होता है। यह कात्यायन मुनि-रचित वार्तिक है।

'तच्चटेरिति—यह पररूप उसी वर्ण या वर्ण समुदाय का होता है, जिसकी सूत्र-३९ 'से' टि' संज्ञा की गयी है।

विशेष १. गण पाठ—महर्षि पाणिनि ने लाघवार्थ अथवा दुरूह शब्दों की व्युत्पत्ति को सरलतया समझाने के निमित्त गणपाठ की भी व्याख्या की है, क्योंकि यह गणपाठ भी उतना ही प्रामाणिक है जितना धातु पाठ और उणादि प्रकरण आदि। गण शब्द का अर्थ वस्तुतः समूह होता है। जब बहुत से शब्दों में एक समान ही कार्य विधान करना होता है तब उन सभी शब्दों को सूत्रों में अलग-अलग स्थान न देकर उनमें से किसी एक विशेष शब्द को प्रारम्भ में रखकर उसी के नाम से एक गण पाठ रच दिया जाता है और उसी गण में समान कार्य वाले शब्दों को समाविष्ट कर दिया जाता है। जैसे—शकन्धु, कर्कन्धु आदि।

२. 'टि' संज्ञा को उदाहरण के माध्यम से ही सरलतया समझा जा सकता है। अस्तु उसके विधायक सूत्र की भाषा के अनुसार किसी शब्द में जो अन्तिम स्वर है और वह स्वर जिस हल् (व्यञ्जन) वर्ण के आदि में हो तब उसे उस वर्ण समुदाय को 'टि' कहते हैं। जैसे—मनस् शब्द में अन्तिम स्वर नकारोत्तरवर्ती अकार है और वह सकार (स्) के आदि में है। अतः मनस् में 'अस्' की टि संज्ञा हुई।

शकन्धु—(शकदेशस्थ कूप) 'शक + अन्धुः' इस स्थिति में 'अचोऽन्त्यादि 'टि' सूत्र से व्यपदेशिवदभाव नियम के अनुसार ककारोत्तरवर्ती अकार की टि संज्ञा होगी। परिणामतः 'शकन्ध्वादिषु पररूपंवाच्यम्' वार्तिक से उस टि संज्ञक अकार का पररूप होकर अर्थात् अन्धु के अकार के ही अनुसार पूर्व अकार के स्थान पर एक मात्र अकार का ही रूप शेष रहेगा। इस प्रकार 'शकन्धुः' अभीष्ट सन्धि रूप सिद्ध होता है।

कर्कन्धुः—'कर्क + अन्धुः' इस स्थिति में 'कर्क' के अन्तिम ककारोत्तरवर्ती अकार की 'अचोऽन्त्यादि टि' सूत्रानुसार 'टि' संज्ञा हो गयी। तदनन्तर व्यपदेशिवद भाव के नियमानुसार 'टि संज्ञक अकार को 'शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्' वार्तिक से पररूप एकादेश अर्थात् अन्धु' का एक अकार मात्र ही शेष रहकर 'कर्कन्धुः' अभीष्ट रूप सन्धि सिद्ध हुआ।

मनीषा—(बुद्धि) 'मनस् + ईषा' इस स्थिति में 'अचोन्त्यादि रूप' सूत्रानुसार 'मनस्' शब्द के 'अस्' की टि संज्ञा हो गयी। तदनन्तर टि संज्ञक 'अस्' को 'शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्' वार्तिक के अनुसार 'मनीषा' शब्द शकन्धु आदि गण पाठ में पठित होने के कारण व्यपदेशिवद् भाव होकर 'ईषा' का ई (पररूप) ही होकर 'मनीषा' यह अभीष्ट सन्धि रूप सिद्ध हुआ।

मार्तण्डः—'(सूर्य)' 'मार्त + अण्डः' इस स्थिति में अन्तिम स्वर तकारोत्तरवर्ती अकार की 'अचोऽन्त्यादि टिः सूत्र से 'टि' संज्ञा हो गयी। तदनतर 'शकन्ध्वादिषु०' इत्यादि वार्तिक से शकन्धु आदि गणपाठ में पठित होने के कारण टि अकार को

सूत्र ४०—ओमाङोश्च—६।१।९५।।

सूत्रवृत्ति—ओमि आङि चात् परे पररूपमेकादेशः स्यात्।

शिवायों नमः। शिव + एहि—

व्यपदेशिवत भाव होकर अर्थात् अण्ड के आकार का ही एकमात्र रूप अकार शेष रहकर उसे पररूप हो गया तब 'मार्तण्ड' यह अभीष्ट सन्धि रूप सिद्ध हुआ।

विशेष १. आकृतीति—यह शकन्ध्वादि गण आकृतिगण के नाम से प्रसिद्ध है।

२. उक्त गण पाठ में पाठित अन्य उदाहरण निम्नवत् हैं—

सीम + अन्तः = सीमन्तः (केश वेष), सम + अर्थः = समर्थः। हल + ईषा = हलीषा। लाङ्गल + ईषा = लाङ्गलीषा, कुल + अटा = कुलटा, सार + अङ्ग = सारङ्ग। पतन् + अञ्जलिः = पतञ्जलिः इत्यादि ये सभी शकन्ध्वादि गण के होने से इनमें पररूप हो जाता है।

३. 'पतञ्जलि' शब्द में 'पतन्' के अन् की टि संज्ञा होकर उसे शकन्ध्वादि.' इत्यादि से पररूप होकर अभीष्ट रूप बनता है।

ओमिति—'अ' वर्ण से आगे 'ओम' अथवा 'आङ्' होने पर पररूप एकादेश हो जाता है।

शिवायोंनमः—'शिवाय + ओम्' इस स्थिति में अवर्ण (यकारोत्तर वर्ती) से परे 'ओम्' शब्द आया है। अतः 'ओमाङोश्च' सूत्र के नियम से उस अवर्ण को पररूप होकर 'शिवायों नमः' यह अभीष्ट रूप सिद्ध होता है।

शिवेहि—'शिव+ आ + इंहि' इस स्थिति में शिव के वकारोत्तर वर्ती अवर्ण से परे 'आङ्' है; किन्तु उससे पूर्व अ से परे आ को 'अकः सवर्णे दीर्घः' सूत्र के नियम से दीर्घ प्राप्त हुआ तथा आङ के आ से परेइहि के इ के आने से पूर्व-परके स्थान पर गुण ए प्राप्त होता है परन्तु उक्त दोनों विधियों में से किसका विधान प्रथम होवे ? व्याकरण की इस सन्देह निराकृति हेतु 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरंगे' अर्थात् अन्तरंग कार्य के प्राप्त होने पर बहिरंग कार्य असिद्ध हो जाता है अथवा अन्तरंग विधि बहिरंग की अपेक्षा बलवान् होती है। उक्त दोनों में से अन्तरंग और बहिरंग के निराकरण के लिए 'धातूपसर्गयोः कार्यम् अन्तरङ्गम् और अन्यत्सर्वं बहिरङ्गम्' इस प्रमाणिक वचन से 'आङ्' उपसर्ग परे इहि धातुरूप के इ आने पर पूर्व-परको गुण एकार होकर 'एहि' सन्धिरूप विधि का प्रयोग अंतरंग होने से प्रथम किया जायेगा। अतः 'शिव + एहि' इस स्थिति में 'ओमाङोश्च' सूत्र के नियम से शिव के वकारोत्तरवर्ती अकार को पररूप होकर '**शिवेहि**' यह अभिष्ट रूप सिद्ध हुआ।

विशेष—अकृतिगण—इसका व्युत्पत्ति निमित्रार्थक शब्द बोध इस प्रकार हो सकता है कि 'आकृत्या सहरूपेण तद्वत्कार्यदर्शनेने गण्यते परिचीयते' इतिआकृतिगणः

सूत्र ४१—अन्तादिवच्च—६।१।८५।।

सूत्रवृत्ति—योऽयमेकादेशः स पूर्वस्यान्तवत् परस्यादिवत्। शिवे हि।

(दीर्घ विधायकं सूत्रम्)

सूत्र ४२—अकः सवर्णे दीर्घः—६।१।१०१।।

सूत्रवृत्ति—अकः सवर्णेऽचि परे पूर्व-परयोः दीर्घएकादेशः स्यात्। दैत्यारिः। श्रीशः। विष्णूदयः। होतृकारः।

अर्थात् आकृतिगण में वे सभी समानविधि वाले शब्द आते हैं; जिनका एक समान पररूप आदि कार्य विधान होता है। जैसे शकन्धु आदि की भाँति 'मार्तण्ड' की भी सिद्धि पररूप एकादेश से होती है। अस्तु; इस प्रकार के अनेक शब्द पाणिनीय गण पाठ में निर्दिष्ट किये गये हैं। इन्हें ही गण पाठ या आकृति गण कहा जाता है। गण पाठ में पठित शब्दों की एकन्धुवत् समान विधि जाननी चाहिए।

अन्तादि०—जो यह एकादेश हुआ है, वह पूर्व के अन्तवत् तथा पर के आदिवत् होता है। उक्त कथन का आशय यह है कि प्रस्तुत उदाहरण में जो यह गुण रूप एकादेश हुआ है, उस एकादेश की स्थिति में भी **एकादेश** होने से पूर्व जो उपसर्गत्व धातुत्व और सुबन्तत्व आदि व्यवहार होते थे, होते रहें। अर्थात् ए रूप एकादेश 'आ + इ' की स्थिति में होकर उपसर्ग और धातु कहा जाये। जिस प्रकार एकादेश होने से पूर्व 'आ' उपसर्ग कहा जाता था और 'ई' धातु कहा जाता था। इसी प्रकार अब भी कहा जाता रहे।

विशेष—उपर्युक्त सूत्र सं० ४१ के नियम का परिणाम निष्कर्षतः यह हुआ कि गुण रूप 'ए' में दोनों धर्म उपसर्गत्व और धातुत्व बने रहें। फलतः ओमाङोश्च' सूत्र को आङ् परे मिल जाने से यहाँ पररूप होगा अर्थात् **'शिव + एहि'** इस स्थिति में पररूप एकादेश 'ए' होकर **'शिवेहि'** रूप सिद्ध होता है। अन्य उदाहरण अभ्यासार्थ निम्न है—उप + आ + इहि = उपेहि। अव + आ + इहि = अवेहि। अप + आ + इहि = अपेहि इत्यादि।

अक इति—अक् प्रत्याहार अर्थात् अ, इ, उ, ऋ, ऌ वर्णों से परे सवर्ण स्वर हो तो पूर्व और पर वर्णों के स्थान पर सवर्ण दीर्घ एकादेश हो जाता है।

विशेष १. सवर्ण का अभिप्राय अ का सवर्ण अ स्वर, इ का सवर्ण इ, उ का सवर्ण स्वर उ, ऋ का सवर्ण स्वर ऋ तथा ऌ सवर्ण स्वर है। सवर्ण संज्ञा के नियम का विधायक सूत्र—**'तुलास्यप्रयत्नं सवर्णम्'** एवं वार्तिक ऋ ऌवर्णयोर्मिथः सावर्ण्यं वाच्यं है।

२. सभी प्रकार के सवर्ण स्वरों से मिलकर केवल द्विमात्रिक ही दीर्घ स्वर होते हैं।

(पूर्वरूप विधायकं सूत्रम्)

सूत्र ४३—एङः पदान्तादति—६।१।१०९।।

सूत्रवृत्ति—पदान्तादेङोऽतिपरे पूर्वरूपमेकादेशः स्यात्। हरेऽव, विष्णोऽव।

(प्रकृतिभावविधायकंसूत्रम्)

सूत्र ४४—सर्वत्र विभाषा गोः—६।१।१२२।।

सूत्रवृत्ति—लोकेवेदे चैङन्तस्य गोरति वा प्रकृतिभावः पदान्ते।

दैत्यारिः (विष्णु) 'दैत्य + अरिः' इस स्थिति में यकारोत्तरवर्ती अकार से अरिः का अकार आगे सवर्ण स्वर होने से पूर्व और पर के स्थान पर 'अकःस दीर्घः' सूत्र के नियम से सवर्ण दीर्घ स्वर एकादेश होकर है 'दैत्यारिः' यह अभिष्ट सिद्ध होता है।

श्रीशः (लक्ष्मी पति) 'श्री + ईशः' इस स्थिति में दीर्घ 'ई' से परे दीर्घ 'ई' स स्वर आया है। अतः 'अकः सवर्णे दीर्घः' सूत्र के नियम से पूर्व-पर के स्थान पर स दीर्घ एकादेश स्वर 'ई' होकर 'श्रीशः' यह अभीष्ट सन्धि रूप सिद्ध होता है।

विष्णूदयः (विष्णु का उदय) 'विष्णु + उदयः' इस स्थिति में ह्रस्व उ से सवर्ण स्वर 'उ' आया है। अतः 'अकः सवर्णे दीर्घः' सूत्र के नियम से पूर्व-पर स्थान पर सवर्ण दीर्घ स्वर 'ऊ' एकादेश होकर 'विष्णूदयः' यह अभीष्ट सन्धि र सिद्ध होता है।

होतृकारः—'होतृ + ऋकारः' इस स्थिति में यहाँ होतृ के ऋकार स्वर से ऋकार सवर्ण स्वर आया है। अतः 'अकः सवर्णे दीर्घः' सूत्र के नियम से पूर्व-पर स्थान पर सवर्ण दीर्घ स्वर 'ॠकार' एकादेश होकर 'होत्कारः' यह अभीष्ट सन्धि रू सिद्ध होता है।

दीर्घ सन्धि के अभ्यासार्थ अन्य उदाहरण निम्नवत् प्रस्तुत है—

न + अय = नाय। देव + आलयः = देवालयः। चिकित्सा + आलयः चिकित्सालयः। तथा + अस्तु = तथास्तु। हरि + इन्द्रः = हरीन्द्रः। गिरि + ईश्वरः गिरीश्वरः। पृथिवी + इन्द्र = पृथिवीन्द्र। भानु + उदयः = भानूदयः। वधू + उत्सवः वधूत्सवः। होतृ + ऋद्धिः = हेतृद्धि। पितृ + ऋणाम् = पितृणम्। इत्यादि।

एङ् इति—पदान्त अर्थात् पद के अन्त में आने वाले 'एङ्' प्रत्याहार (ए, ओ) परे 'अत्' अर्थात् ह्रस्व अकार के आने पर दोनों वर्णों के स्थान पर पूर्वरूप एकादेश हो जाता है।

विशेष—पूर्वरूप एकादेश का अभिप्राय है कि दोनों (पूर्व-पर) के स्थान प केवल पूर्व का ही एक रूप शेष रहता है तथा पर अथवा बाद का रूप लुप्त हो जात है। 'अत्' शब्द से तपर करण या ह्रस्व अकार का ही केवल ग्रहण होता है।

सूत्र ४५—अनेकाल् शित्सर्वस्य—१।१।५५।।

गो अगम्। गोऽग्रम्। एङन्तस्य किम् चित्रग्वग्रम्। पदान्ते किं गो:।

हरेऽव—(हे हरि, रक्षा करे) 'हरे + अव' इस स्थिति में पदान्त एङ अर्थात् यहाँ एकार से परे ह्रस्व अकार आया है। अत: 'एङ' पदान्तादति सूत्र के नियम से पूर्व पर (ए + अ) के स्थान पर पूवरूप (एकार) एकादेश अर्थात् एकार होकर 'हरेऽव' यह सन्धि रूप सिद्ध होता है। पर के रूप अकार का अदर्शन हो जाता है। अकार का प्रतीकात्मक रूप (ऽ) अवग्रह चिन्ह लगा देते हैं।

विष्णोऽव—(हे विष्णु, रक्षा करे) 'विष्णो + अव' यहाँ परन्त ओकर के बाद या उससे परे 'अव' का अकार आया है। अत: 'एङ: दान्तादति' सूत्र के नयम से पूर्व-पर के स्थान पर (ओ + अ) पूर्वरूप् होकर 'विष्णोऽव' यह अभीष्ट सन्धि रूप हो जाता है।

इसी प्रकार के अन्य उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं—

के + अपि = केऽपि। को + अपि = कोऽपि। रामो = असौ रामोऽसौ। को + अत्र = कोऽत्र। हरे + अवतु = हरेऽवतु। कानने + अस्ति = काननेऽस्ति। देवे + अति = देवेऽति। विप्रो + अयम् = विप्रोऽयम्।

सर्वत्रेति—सर्वत्र अर्थात् लोक और वेद में एङन्त गो शब्द को प्रकृतिभाव विकल्प से होता है पदान्त में, जबकि उसके आगे ह्रस्व अकार हो।

विशेष—१. सूत्र में पठित सर्वत्र शब्द से तात्पर्य है लौकिक और वैदिक भाषाओं में वस्तुत: संस्कृत के काव्यनाटयादि में प्रयुक्त संस्कृत भाषा लौकिक संस्कृत है, परन्तु वेदादि में प्रयुक्त संस्कृत भाषा वैदिक भाषा है। प्रचलित संस्कृत भाषा के व्याकरण सम्वन्धी नियम वैदिक भाषा से भिन्न प्रकार के हैं, किन्तु यह सूत्र वैदिक तथा लौकिक दोनों ही भाषाओं में एक समान विधि वाला है।

२. एङन्त 'गो' शब्द से तात्पर्य है ऐसे 'गो' शब्द का जिसके अन्त में ओकार हो अर्थात् ओकारान्त 'गो' शब्द, क्योंकि कहीं-कहीं गो शब्द का रूप उकारान्त और औकारान्त भी हो जाता है। जहाँ पर उक्त सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होगी। वस्तुत: गो शब्द पूरे को प्रकृति भाव न होकर 'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा के अनुसार गो शब्द के अवयव ओकार को प्रकृतिभाव होता है।

३. सूत्र में विभाषा का अर्थ विकल्प से 'अति' में तपरकरण होने से ह्रस्व अकार का ही ग्रहण होगा। प्रकृतिभाव से तात्पर्य किसी भी शब्द का अपने मूल रूप में ही रहना क्योंकि इसके नियम से प्राप्त सन्धि नियम का बाध अथवा अवरोध हो जाता है। प्रकृति भाव **'गो'** शब्द के ओकार का होता है।

सूत्र ४६—ङिच्च—१।१।५३।।

सूत्रवृत्ति—ङिदनेकालप्यन्त्यस्यैव स्यात्।

सूत्र ४७—अवङ् स्फोटायनस्य—६।१।१२३।

सूत्रवृत्ति—पदान्ते एङन्तस्य गोवङ् वाचि।

गावाग्रम्, गो अग्रम्, गोऽग्रम्। पदान्ते किम्—गवि।

गो अग्रम्—'गो + अग्रम्' इस स्थिति में 'गो' शब्द का अवयव ओकार पदान्त भी है और एङन्त में भी है तथा उससे परे अग्र न का ह्रस्व अकार आया है। अतः सर्व विभाषाः गो सूत्र से यहाँ प्रकृतिभाव होकर अर्थात् कोई विकार न होकर **'गो'** अग्र यह रूप सिद्ध हुआ।

विशेष—उक्त उदाहरण में प्रकृति भाव होने के कारण यहाँ पूर्वरूप सन्धि नियम का बाध हो गया।

गोऽग्रम्—प्रकृतिभाव चूँकि विकल्प से होता है। अतः 'एङः पदान्तादति' पूर्वरू सन्धि नियम से पूर्व रूप होकर गोऽग्रम् यह भी द्वितीय रूप बनेगा।

पदान्ते किम्—एङन्त भी गो शब्द के ओकार का ही प्रकृति भाव हो न कि उकारान्तादि 'गो' शब्द को। अतः 'चित्रग्वाग्रम्' रूप में प्रकृतिभाव नहीं हुआ है। गो शब्द पदान्त है किन्तु गो शब्द यद्यपि प्रदान्त नहीं है क्योंकि पद सविभक्तिक होता किन्तु षष्ठी समास के बाद गोशब्द पद ही हो जायेगा।

अनेकाल—जिस आदेश में अनेक अर्थात् एक से अधिक अल् अथवा वर्ण तथा जिससे शकार की इत्संज्ञा (शित्) और उसका लोप हुआ हो, वह सर्वस्य अर्था सम्पूर्ण स्थानी के स्थान में होता है। उदाहरणार्थ 'अस्' धातु के स्थान में होने वाला आदेश अनेकाल् होने से सम्पूर्ण स्थानी अर्थात् अस् के स्थान में होता है, न कि अन्त वर्ण स् के स्थान में। इसी प्रकार शित् आदेश भी सम्पूर्ण स्थानी के स्थान में हो है:—जैसे 'अष्टाभ्य औश्' सूत्र द्वारा 'अष्टन्' शब्द से जस् अथवा अस् के स्थान होने वाला औश् आदेश सम्पूर्ण अस् के स्थान में ही होता है, क्योंकि 'औश्' आदे शित् है, इसमें शकार की इत्संज्ञा होकर 'अष्टौ' रूप सिद्ध होता है।

ङिच्चेति—जिस आदेश में ङकार की इत्संज्ञा होती है, उसे ङित् कहते हैं। आ के सूत्र में अवङ् आदेश भी ङित् है क्योंकि इसमें 'हलन्त्यम्' सूत्र से ङ् की इत्संज्ञा जाती है; साथ ही यह आदेश 'अव् अङ्' के रूप में 'अनेकाल' भी है।

विशेष—आगे के सूत्र ('अवङ् स्फोटायनस्य') में ङित् आदेश होता है और व अनेकाल होते हुए भी स्थानी के अन्तिम वर्ण को ही होता है, सम्पूर्ण स्थानी के स्थान नहीं होता। 'गो' शब्द के स्थान में होने वाला 'अवङ्' आदेश केवल गकारोत्तरव ओकार के ही स्थान में होगा क्योंकि वह 'अनेकाल' और ङित् दोनों ही है।

अवङिति—पदान्त में एङन्त गो शब्द को अवङ् आदेश [illegible] विकल्प से स्वर [illegible] रह[illegible] पर अथ[illegible] गो शब्द से परे स्वर आने पर उसे विकल्प [illegible] आदेश [illegible]

सूत्र ४८—इन्द्रे च—६।१।१२४।।

सूत्रवृत्ति—गोरवङ् स्यादिन्द्रे। गवेन्द्रः।

(प्लुत विधायकं सूत्रम्)

सूत्र ४९—दूराद्धूते च—८।२।८४।।

सूत्रवृत्ति—दूरात् सम्बोधने वाक्यस्यटेः प्लूतो वा।

(प्रकृतिभाव विधायकं सूत्रम्)

सूत्र ५०—प्लुत प्रगृह्या अचि नित्यम्—६।१।१२५।।

सूत्रवृत्ति—एतेऽचिप्रकृत्या स्युः। आगच्छ कृष्ण ३ अत्र गौश्चरति।

विशेष—'**स्फोटायन**' नामक प्रसिद्ध वैयाकरण के मतभेद से '**गो**' शब्द को अवङ् आदेश होता है, किन्तु अष्टाध्यायी के सूत्रकार पाणिनि को उक्त मत अभीष्ट नहीं। अतः उनके मत से 'अवङ्' आदेश नहीं होता। इस उक्त आदेश की वैकल्पिक व्यवस्था है।

गवाग्रम्—'गो + अग्रम्' इस स्थिति में पदान्त में एङन्त 'गो' शब्द से परे 'अग्रम्' का अकार स्वर आया है, अतः 'अवङ्स्फोटायनस्य' सूत्र के नियम से 'गो' शब्द के अवयव ओकार को 'अवङ्' आदेश होगा। तब 'गव अग्रम्' इस स्थिति में 'अकः सवर्णे दीर्घः' सूत्र से सवर्ण दीर्घ होकर 'गवाग्रम्' यह अभीष्ट रूप सिद्ध होता है।

गो अग्रम्—'गो + अग्रम' इस स्थिति में चूँकि अवङ् आदेश के वैकल्पिक होने से, अवङ् के अभाव पक्ष में 'सर्वत्र विभाषा' सूत्र से प्रकृतिभाव होकर 'गो अग्रम्' यह भी दूसरा रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार प्रकृति भाव के भी वैकल्पिक होने से पूर्वरूप के नियम से 'गोऽग्रम्' तीसरा रूप भी बनता है।

पदान्ते किम्—गो शब्द को 'अवङ' आदेश पदान्त में ही होता है। अतः 'गो + इ' स्थिति में अवङ् आदेश न होकर इ (ङि) सप्तमी विभक्ति का प्रत्यय है जोकि अपनी 'प्रकृति' गो से अलग है। अतः सविभक्तिक न होने से यह पदान्त नहीं है और न ओ पदान्तक ही कहलायेगा। तब ओ को अवादेश होकर 'गवि' यह रूप बनेगा।

इन्द्र इति—इन्द्र शब्द से परे गो शब्द को अवङ् आदेश होता है।

गवेन्द्रः—'गो + इन्द्रः' इस स्थिति में इन्द्र शब्द से परे गो शब्द के आने पर गो शब्द के ओकार को 'इन्द्रच' सूत्र के नियम से 'अवङ्' आदेश होकर 'ग् अवङ् + इन्द्रः' बना। तब ङकार 'हल्न्त्यम्' से इत्संज्ञा और 'तस्यलोपः' से उसका लोप होकर 'गव + इन्द्रः' बना। तत्पश्चात् 'आद्गुणः' से गुण 'एकार' होकर 'गवेन्द्रः' यह अभीष्ट सन्धि रूप सिद्ध हुआ।

दूरादिति—दूर से सम्बोधन में अर्थात् किसी को दूर से बुलाने में वाक्य की जो 'टि' संज्ञक वर्ण हो, उसकी प्लुत संज्ञा हो विकल्प से।

सूत्र ५१—ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्—१।१।११।।

सूत्रवृत्ति—ईदूदेदन्तं द्विवचनं प्रगृह्यसंज्ञकं स्यात्। हरी एतौ। विष्णू इमौ। गङ्गे अमू।

सूत्र ५२—अदसो मात्—१।१।१२।।

सूत्रवृत्ति—अस्मात् परावीदूतौ प्रगृह्यौस्तः। अमी ईशाः। रामकृष्णावमू आसाते। मात्किम्—अ नुकेऽत्र।

विशेष—स्वरों के मध्य जो अन्तिम स्वर होता है, उसकी **'अचोऽन्त्यादि टिः'** सूत्र से टि संज्ञा होती है।

प्लुत प्रगृह्योति—प्लुत संज्ञक तथा प्रगृह्य संज्ञक वर्णों को प्रकृति भाव होता है स्वर परे रहने पर नित्य ही ।

विशेष—प्रकृतिभाव होने से उनमें किसी भी सन्धि का नियम न लगाकर अर्थात् उनमें कोई विकार न होकर वे यथास्थिति में बने रहते हैं।

आगच्छ कृष्ण ३ अत्र गौश्चरति—(हे कृष्णा! आओ, यहाँ गाय चरती है; यहाँ आगच्छ कृष्ण! इतना जो वाक्य है, वह कृष्ण को दूर से बुलाने में प्रयुक्त हुआ है अतः 'दूराद्धूते च' सूत्र से सम्बोधन वाचक कृष्ण! शब्द के 'टि' अर्थात् अन्तिम स्वर अकार की प्लुत सज्ञा होने के कारण तथा प्लुत संज्ञक अकार से परे अत्र के अकार स्वर के होने पर भी 'प्लुतपगृहण अचि नित्यम्' सूत्र से यहाँ प्रकृति भाव हो गया अर्थात् दीर्घ सन्धि का नियम प्राप्त होने पर भी उसमें कोइ सन्धि कार्य नहीं होगा अर्थात् उक्त वाक्य की यथावत् स्थिति रही।

विशेष १. प्रकृति भाव के यहाँ वैकिल्पक होने से उसके अभाव के पक्ष में दीर्घ भी हो सकता है।

२. प्लुत संज्ञक, स्वर के त्रिमात्रिक होने के कारण 'कृष्ण ३' में कृष्ण के अकार के आगे प्लुत का चिह्न (३) लिखा गया है, जो प्लुत संज्ञा का सूचक होता है।

ईदूदेदिति—ईकारान्त, ऊकारान्त और एकारान्त द्विवचन की प्रगृह्य संज्ञा हो जाती है।

हरी एतौ—'हरी + एतौ' इस स्थिति में ईकारान्त द्विवचन 'हरी' पद है, अतः **'ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्'** सूत्र से उसकी प्रगृह्य संज्ञा हो गयी। अतः 'प्लुत प्रगृह्य अचिनित्यं' सूत्र के द्वारा इसका प्रकृतिभाव होने के कारण 'एतौ' पद के 'ए' स्वर के आगे रहने पर भी यहाँ यण् सन्धि का कार्य नहीं होगा अर्थात् उक्त पदों की यथावत् स्थिति होने से 'हरी एतौ' यही रूप बना रहेगा।

विष्णू इमौ—'विष्णू + इमौ' इस स्थिति में यहाँ ऊकारान्त द्विवचनान्त 'विष्णू' पद की 'ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्' सूत्र से प्रगृह्य संज्ञा हो गयी तथा 'प्लुत प्रगृह्य अचि नित्यम् सूत्र से प्रकृति भाव होने के कारण इसमें यण सन्धि का कार्य न होकर उनकी यथावत् स्थिति रही। अतः 'विष्णू इमौ' यही रूप बना रहेगा।

गङ्गेअमू—'गङ्गे + अमू' इस स्थिति में यहाँ एकारान्त द्विवचनान्त गङ्गे पद की 'ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्' सूत्र से प्रगृह्य संज्ञा होकर 'प्लुत प्रगृह्यअचि नित्यम्' सूत्र से उसे प्रकृति भाव हो गया अर्थात् उक्त पदों में पूर्व रूप सन्धि के नियम का निषेध होकर उक्त पद यथावत् रहने से 'गङ्गे अमू' यही रूप बना रहेगा।

अदस् इति्—मकारान्त अदस् शब्द से परे ईकार और ऊकार की प्रगृह्य संज्ञा हो जाती है।

अमीईशाः—'अमी + ईशाः' इस स्थिति यहाँ अमी यह रूप अदस् सर्वनाम शब्द के प्रथमा विभक्ति बहुवचनान्त रूप है, अतः यहाँ मकारान्त अदस् शब्द के इकारान्त अमी से परे ईशाः का ईकार है। फलतः 'अदसो मात' सूत्र से उसे प्रगृह्य संज्ञा होकर 'प्लुत प्रगृह्य' इत्यादि सूत्र से प्रकृति भाव होकर यथावत् रूप रहेगा।

अर्थात्—उसको दीर्घसन्धि प्राप्त होकर भी सन्धिकार्य निषिद्ध हो जायेगा और प्रकृतिभाव होने से ज्यों का त्यो रूप 'अमी ईशाः' ही रूप रहेगा। इसी प्रकार अमी ईहन्ते, अमी अश्वनन्ति, अमूअश्नीत, अमू आसा तौ आदि रूप प्रकृतिभाव होने से यथावत् रहेंगे।

मात्किम्—मकारान्त अदस् शब्द से परे ही 'ई' 'ऊ' की 'अदसो मात्' सूत्र से प्रगृह्य संज्ञा होती है, अतः 'अमुके + अत्र' इस स्थिति में 'अमुके' में यद्यपि 'अदस्' सर्वनाम शब्द तो है किन्तु यहाँ अदस् शब्द के म से परे एकार नहीं है क्योंकि म और एकार के मध्य उकार तथा ककार का व्यवधान है। अतः यहाँ प्रगृह्य संज्ञा नहीं होगी। इसके परिणामस्वरूप यहाँ प्रकृतिभाव भी नहीं होगा। तदनन्तर पूर्व रूप सन्धि के निमय से 'अमुकेऽत्र' ही सन्धि रूप रहेगा।

विशेष १. चूँकि प्रगृह्य संज्ञा तो सूत्रकार के अनुसार 'ईदूदेदद्विविचनं प्रगृह्यम् सूत्र से होती है। तब 'अमूके + अत्र' इस उदाहरण में एकार की प्रगृह्य संज्ञा क्यों नहीं सूचित की गयी है, परन्तु 'अद्सो मात्' सूत्र के द्वारा मकरान्त 'अदस्' शब्द से परे ईकार और अकार की ही तो प्रगृह्य संज्ञा करता है, एकार की नहीं। अस्तु यहाँ एकार होने के कारण स्वतः ही प्रगृह्य संज्ञा नहीं होगी। इस शंका के निवारण के लिए 'मात्' पद को जो सूत्र में ग्रहण किया गया है, क्या उसमें 'मात्' ग्रहण व्यर्थ ही है ? इसका समाधान यह है कि यदि 'मात्' पद का इसमें ग्रहण नहीं किया जाता तो ईदू देद द्विवचनं प्रगृह्यम्' सूत्र से इस सूत्र में ईत् ऊत् के साथ ही एत् की भी अनुवृत्ति हो जाती, क्योंकि व्याकरणशास्त्र में एक परिभाषा यह भी है—"सन्नियोगशिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः" अर्थात्—साथ कहे हुये पदार्थों की जो साथ साथ ही कहे गये हैं, अतः इन तीनों की एक साथ ही इस सूत्र में अनुवृत्ति हो जायेगी। अस्तुः सूत्र का अर्थ होगा—अदस् शब्द से परे ई, ऊ तथा ए की प्रगृह्य संज्ञा हो—'अमुके + अत्र' में अदस् शब्द से परे ए है, अतः इसकी भी प्रगृह्य संज्ञा होकर प्रकृतिभाव होने पर के अनिष्ट रूप बनने लगता है।

सूत्र ५३—चादयोऽसत्वे।१।४।५७।।

सूत्रवृत्ति—अद्रव्यार्थाश्चादयो निपाताः स्युः।

सूत्र ५४—प्रादयः ।१।४।५८।।

सूत्रवृत्ति—एतेऽपि तथा।

सूत्र ५५—निपात एकाज नाङ्— ।१।१।१४।।

सूत्रवृत्ति—एकोऽज् निपात आङ् वर्जः प्रगृह्यः स्यात्। इ इन्द्रः। उ उमेशः वाक्य-स्मरणयोङित्-आ एवं नु मन्यसे। आ एवं किल तत्। अन्यत्र ङित्-ईषदुष्णम् ओष्णम्।

---

२. अस्तु ए कार की अनुवृत्ति के निवारणार्थ यहाँ सूत्र में 'मात्' पद का ग्रहण करना अपेक्षित (आवश्यक) अथवा युक्तिसंगत है। जब सूत्र में 'मात्' ग्रहण करते हैं तब एकार की अनुवृत्ति स्वतः ही नहीं होती क्योंकि मकारान्त 'अदस्' शब्द के रूपों में ईकार तथा ऊकार अन्तिम अवयव (अमी, अमू) ही रूप बनते हैं। एकार कभी हो ही नहीं सकता। अतएव यहाँ एकारान्त कभी रूप नहीं बन सकता। अस्तु 'मात्' का पद ग्रहण आवश्यक ही है।

चादयइ ति—द्रव्य से भिन्न अर्थ के वाचक जो च आदि (जिनका कि उल्लेख अव्यय प्रकरण में किया गया है) की निपात संज्ञा होती है।

प्रादय इति—प्र आदि २२ उपसर्गों की भी निपात संज्ञा होती है।

विशेष १. क्रिया के योग में तो प्र आदि की उपसर्ग संज्ञा होती है किन्तु अन्यत्र इसकी निपात संज्ञा ही होती है।

२. प्रस्तुत निपात संज्ञा का फल आगे के सूत्र में निर्दिष्ट किया गया है।

निपात इति—अनाङ् अर्थात् आङ् (आ) उपसर्ग को छोड़कर, एकाच् (एक स्वर वाला) जो निपात हो, तो उसकी प्रगृह्य संज्ञा हो जाती है।

इ इन्द्रः—(यह इन्द्र है) 'इ + इन्द्र' इस स्थिति में एक अच् वाला निपात 'ई' है क्योंकि इसकी 'चादयोऽसत्वे' सूत्र से निपात संज्ञा है; अतः 'निपात एकाजनाङ्' प्रस्तुत सूत्र से इसकी प्रगृह्य संज्ञा हो गयी। तब 'प्लुत प्रगृह्य अचि नित्यम्' सूत्र से उसे प्रकृति भाव होकर तथा सवर्ण दीर्घ न होकर 'ई इन्द्रः' रूप बनेगा।

उ उमेशः—'उ + उमेशः' इस स्थिति में यहाँ एकाच् निपात प्रथम उ की 'निपात एकाजनाङ्' सूत्र से प्रगृह्य संज्ञा होने से उसे 'प्लुत प्रगृह्य' अचि नित्यम्' से प्रकृतिभाव हो गया अर्थात् सवर्ण दीर्घ का निषेध हो कर यथावत् 'उ उमेशः' ही रूप बना रहेगा।

वाक्यस्मरणयोर डिन्त्—सूत्र में अनाङ् से तात्पर्य है कि आङ् की प्रगृह्य संज्ञा न हो परन्तु आङ और आ ये दो प्रकार के निपात यद्यपि देखे जाते हैं तथापि प्रयोगवस्था में 'ङ्' की इत्संज्ञा और लोप हो[illegible]र दोनों 'आ' के [illegible] रूप रह जाते हैं।

सूत्र ५६—ओत् ।१।१।१५।।

सूत्रवृत्ति—ओदन्तो निपातः प्रगृह्यः अहो ईशाः।

सूत्र ५७—सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे। १।१।१६।।

सूत्रवृत्ति—सम्बुद्धिनिमित्तक ओकारो वा प्रगृह्योऽवैदिके इतौ परे। विष्णो इति, विष्ण इति, विष्णविति।

अतः प्रयोगकाल में कौन-सा आ अङित है और कौन सा ङित है ? इस व्यवस्था के लिये ही लिखा गया है कि वाक्य और स्मरण अर्थ में प्रयुक्त 'आ' ङित् नहीं होता अपितु वह केवल आ ही होता है किन्तु भिन्नार्थ में आ ङ्त होता है। जैसा कि निम्न कारिका से स्पष्ट होता है—ईषद्र्थे क्रिया योगे मर्यादाभिविधौ च यः। एतमातं ङितं विद्यात् **वाक्यस्मरणयोरङित्**।। इन अर्थों में आ ङित् (आङ) समझना चाहिए। अल्पार्थ में, क्रिया के साथ, मर्यादा (किसी सीमा से पहले) और अभि विधि (उस सीमा के सहित) अर्थ में वाक्य और स्मरण अर्थ में आ ङित् नहीं होता।

अतएव एकाच् निपात होने के कारण उनकी प्रगृह्य संज्ञा सूत्र द्वारा हो जाती है।

आ एवं नु मन्यसे—(क्या तुम ऐसा मानते हो) यह वाक्य के अर्थ में प्रयुक्त अङित् आ है। अतः '**निपात एकाजनाङ्**' सूत्र द्वारा इसकी प्रगृह्य संज्ञा होकर उसे 'प्लुत प्रगृह्य.' इत्यादि सूत्र से प्रकृतिभाव हो जायेगा। अतः यहाँ सन्धि कार्य का निषेध हो जायेगा। अस्तु उक्त वाक्य यथावत् रहेगा।

आ एवं किल तत्—(हाँ यह ऐसा ही था) यहाँ 'आ' स्मरण अर्थ में होने के कारण अङित् है। अतः यहाँ भी 'निपात एकाजनाङ्' सूत्र से प्रगृह्यसंज्ञा तथा तदनुसार 'प्लुतप्रगृह्य' इत्यादि सूत्र से प्रकृतिभाव होने से सन्धिकार्य का निषेध होकर 'आ एवं किल तत्' यही वाक्य रहेगा।

अन्यत्रेति—अर्थात् वाक्य और स्मरण अर्थ से भिन्न अर्थों में प्रयुक्त 'आ' ङित् होता है और ङित् होने के कारण प्रस्तुत प्रकृत सूत्र से उसकी प्रगृह्य संज्ञा का निषेध हो जाता है। इसके फलस्वरूप वहाँ सन्धि हो जाती है। ईषदर्थ अथवा अल्पार्थ का उदाहरण ओष्णाम् है, क्योंकि यहाँ आ ईषद् अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। क्रियायोग का उदाहरण आ अलिखत् = आलिखत् है।

ओष्णम् (कुछ गर्म) 'आ + अष्णम्' इस स्थिति में ईषदर्थ अथवा अल्पार्थ में प्रयुक्त आ यहाँ ङित् है अतः 'निपात एकाजनाङ्' सूत्र से प्रगृह्य संज्ञा का निषेध होकर 'आदगुणः' से आ + उ' के स्थान पर ओ गुण होकर **ओष्णम्**' यह सन्धि रूप सिद्ध होता है।

ओदिति—ओकारान्त नि[illegible] प्रगृह्य संज्ञा हो जाती है।

सूत्र ६१—ऋत्यकः—६।१।१२८।।

सूत्रवृत्ति—ऋति परे पदान्ता अकः प्राग्वद्वा। ब्रह्म ऋषिः, ब्रह्मर्षिः। पदान्ताः किम्—आर्च्छत्।

चक्रि अत्र—'चक्री + अत्र' इस स्थिति में पदान्त इक् है—चकी शब्द का ईकार और उससे परे असवर्ण अच् है अत्र का अः अतः सूत्र ५९ से ई को ह्रस्व होकर 'चक्रि अत्र' रूप सिद्ध होता है।

ह्रस्व का विधान चूँकि वैकल्पिक है अन्तः ह्रस्व के अभाव पक्ष में यण् विधान का य होकर 'चक्रयत्र' रूप भी बनता है।

इसी प्रकार वैकल्पिक ह्रस्व विधान के अन्य उदाहरण अभ्यासार्थ निम्नवत् हैं—ज्ञानी + उवाच = **ज्ञानि उवाच** और ज्ञान्युवाच। देवी + आह = देवि आह और देव्याह। नदी + अवतरति = **नदिअवतरति** और नद्यवतरति आदि।

पदान्ता इति—'इकोऽसवर्णे, इत्यादि सूत्र पदान्त इक् को ही ह्रस्व करता है। अतः अपदान्त इक् को ह्रस्व न होगा। अस्तु 'गौरी + औ' इस स्थिति में 'गौरी' का ईकार इक् होते हुए भी पदान्त नहीं है, क्योंकि सुवन्त या तिङन्त ही पद होता है और उसका अन्तिम वर्ण ही पदान्त कहलाता है, परन्तु यहाँ सुप् अर्थात् 'औ' गौरी से पृथक् है। अतः यह पदान्त न होने से यहाँ ह्रस्व नहीं होगा; अस्तु, यण् सन्धि होकर गौर्यौ रूप बनेगा।

(वा) वार्तिक—न समासे—समास में असवर्ण स्वर परे रहते पदान्त इक् वर्णों को ह्रस्व नहीं होता।

वाप्यश्वः—'वापी + अश्वः इस स्थिति में यहाँ वाप्याम् अश्वः इति वाप्यश्वः यह तत्पुरुष है। अतः समास होने के कारण उक्त स्थिति में 'इकोऽसवर्णो' इत्यादि सूत्र से प्राप्त ह्रस्व का 'न समासे' इस सूत्र से यण् होकर 'वाप्यश्वः' रूप बनेगा।

इसी प्रकार समास में ह्रस्व न होकर 'इकोऽसवर्णो' इत्यादि सूत्र से प्राप्त ह्रस्व का न समासे, (वा०) से निषेध होकर 'इको यणचि' सूत्र से यण् हो जायेगा और तब 'वाप्यश्वः' रूप बनेगा। इसी प्रकार समास में ह्रस्व न होने के कारण 'नद्युदगमः' देव्यात्मजः आदि प्रयोग बनते हैं।

अच इति—अच् अर्थात् स्वर से परे जो रेफ और हकार उनसे परे हो 'यर्' प्रत्याहारान्तर्गत वर्ण उनको द्वित्व होता है विकल्प से।

गौर्य्यौ—'गौरी + औ' इस स्थिति में यण् होकर 'गौर्यौ' रूप बनता है। यह गकार का उत्तरवर्ती औ स्वर है और उससे परे यहाँ रेफ (रकार) है। अतः रकार से परे यर् वर्णों में य् है अस्तु 'अचो०' इत्यादि सूत्र से यकार को द्वित्व होकर 'गौर्य्यौ' रूप बनेगा। द्वित्व के वैकल्पिक होने के कारण एकत्व के पक्ष में द्वित्व न होकर 'गौर्यौ' यह भी द्वितीय रूप बनता है।

ऋत्यक इति—ऋत् अर्थात् तपरकरण सामर्थ्य से ह्रस्व ऋकार के आगे (परे) रहने पर पदान्त अक् प्रत्याहारान्तर्गत (अ, इ, उ, ऋ, ऌ) को विकल्प से ह्रस्व हो।

ब्रह्मऋषि–'ब्रह्मा + ऋषि' इस स्थिति में पदान्त अक् वर्ण है। ब्रह्मा का आ और उससे परे ऋषि का ऋकार ह्रस्व भी है। अतः 'ऋत्यकः' सूत्र से यहाँ आ को ह्रस्व होकर 'ब्रह्म ऋषि' यह रूप सिद्ध होता है।

यह ह्रस्व विधान भी वैकल्पिक है। अतः ह्रस्व के अभाव पक्ष में 'आ + ऋ' अर्थात् पूर्व पर के स्थान पर '**आदगुणः**' सूत्र से अ गुण तथा '**उरण रपरः**' सूत्र से रपर होकर अर्थात् 'अर्' गुण होकर '**ब्रह्मर्षि**' यह द्वितीय रूप भी बनता है।

पदान्ताः किम्–'**ऋत्यकः**' सूत्र से पदान्त अक् वर्णों को ही ह्रस्व होता है; अपदान्त को नहीं। अतः 'आ + ऋच्छत्' इस स्थिति में यद्यपि यहाँ अक् आ है और ह्रस्व ऋकार भी परे है तथापि पदान्त 'आ' न होने के कारण यहाँ ह्रस्व न होगा। तब आ + ऋ अर्थात् पूर्व-पर के स्थान पर 'आर्' वृद्धि एकादेश होकर 'आर्च्छत्' यह अभीष्ट रूप सिद्ध होता है।

।।इति अच् सन्धि प्रकरणम्।।

परीक्षोपयोगी प्रश्न

- **बहुविकल्पीय**

१. यण सन्धि के उदाहरणों में कौन-सा उदाहरण नहीं है।

(क) वार्यानय, (ख) सुद्ध्युपास्यः,

(ग) मात्राज्ञा, (घ) तबल्कारः।

२. प्रकृति भाग सिन्ध से सम्बद्ध सत्र और उदाहरण है।

(क) पुत्रौ इति, (ख) रामौ उभौ,

(ग) भानू एतौ, (घ) अमूगङ्गे।

३. 'वृद्धिरेचि' सूत्रानुसार सही सन्धि पद है।

(क) नेति, (ख) भवति,

(ग) अवैमि, (घ) नायति।

४. गुण सन्धि के आदगुणः सूत्रानुसार उदाहरण नहीं है।

(क) ममल्कार, (ख) चन्द्रोदयः,

(ग) सेति, (घ) पित्रेव।

५. 'सर्वत्र विभाषा गोः' सूत्रानुसार उदाहरण नहीं है।

(क) गो अग्रम्, (ख) गोऽग्रम्,

(ग) गावाग्रम्, (घ) चित्रग्वग्रम्।

६. 'उपसर्गादृतिधातौ' सूमानुसार सही उदाहरण है।
(क) कृष्णर्द्धि, (ख) राजर्षि,
(ग) उत्तमर्णा, (घ) प्रार्च्छति।

७. 'सूद्ध्युपास्य' उदाहरण में निम्न सूत्र विकल्प से द्वित्व करता है।
(क) संयोगान्तस्य सोप:, (ख) स्थानेऽन्तरतम:,
(ग) धातोरनभ्यासस्य, (घ) अनचिच।

८. 'राजर्षि' पद का सही विग्रह है।
(क) राज + ऋषि, (ख) राजा + अर्षि,
(ग) राजर् + षि, (घ) राजा + ऋषि।

९. वृद्धिसंज्ञा का सूत्र है।
(क) वृद्धिरेचि, (ख) एत्येधत्यूठसु,
(ग) वृद्धिरादैच्, (घ) इकोगुण वृद्धि।

१०. 'अदसो मात्' सूत्रानुसार प्रगृह्यसंज्ञा निम्न उदाहरण की होगी।
(क) रामकृष्णौ + अमू, (ख) अमुके + अत्र,
(ग) अमी ईशा:, (घ) रामौ + इमौ।

उत्तरमाला

१. (घ) २. (ग) ३. (ग) ४. (घ) ५. (घ) ६. (घ) ७. (घ) ८. (घ) ९. (ग) १०. (ग)।

- **लघु उत्तरीय**

प्रश्न १. पूर्वरूप सन्धि का सूत्र सोदाहरण लिखकर व्याख्या करें।

उत्तर—'एङः पदान्तादति' पूर्व रूप सन्धि का सूत्र है। इसके उदाहरण रामोऽपि, सोऽहम्, भुवनेऽत्र इत्यादि हैं तथा निम्नवत् व्याख्या है : पदान्त 'एङ्' (ए, ओ) से परे ह्रस्व अकार आये तो उसे पूर्व रूप हो जाता है अर्थात् पदान्त में यदि ए, ओ हों तथा पर मे (बाद में) अकार (ह्रस्व अ) हो तो पूर्व रूप होकर उसके लिए अवग्रह चिन्ह (ऽ) लगा देते हैं।

प्रश्न २. 'लोपः शाकल्यस्य' सूत्र की व्याख्या करके उसके वैकल्पिक उदाहरण प्रस्तुत करें।

उत्तर—'हरे + इह' इस स्थिति में 'एचोऽयवायाव:' सूत्र से हरे के एकार को अय आदेश होकर 'हरय् + इह' इस स्थिति में शाकल्याचार्य के मत से विकल्प से य् लोप होकर 'हर इह' बनता है किन्तु पाणिनि के मत में य लोपोक्ष अभाव पक्ष में 'हरयिह' पद (द्वितीय रूप) बनता है।

प्रश्न ३. 'हर इह' उदाहरण में 'अद्गुणः' सूत्र के नियम को कौन-सा सूत्र प्रतिबन्ध लगा देता है ?

उत्तर–'हर + इह' में अकार से परे स्वर इ है अतः 'आद्गुणः' से गुण ए प्राप्त होता है किन्तु सपाद सप्ताध्यायी के समक्ष त्रिपादी के नियम पर रोक लगा देता है। अतः **पूर्वत्रासिद्धम्** सूत्र से 'आद्गुणः' यहाँ असिद्ध होने से गुण कार्य नहीं होने से 'हर इह' रूप ही रहेगा। अतः यहाँ प्रतिबन्ध लगाने वाला सूत्र '**पूर्वत्रासिद्धम्**' ही है।

• **दीर्घ उत्तरीय**

प्रश्न १. 'सुयुपास्यः' की सिद्धि में प्रमुखताया कौन-कौन सूत्र प्रयुक्त होते हैं उनकी व्याख्या नियम निर्देश पूर्वक कीजिए।

प्रश्न २. 'नायकः' सन्धि पद की सूत्रोल्लेखसहित नियमनिर्देशपूर्वक सिद्धि कीजिए।

प्रश्न ३. 'हरयिह' हर इह वैकल्पिक पदों को सूत्रों सहित सिद्ध कीजिए।

प्रश्न ४. 'अचोऽन्त्यादि टिः' सूत्र की सोदाहरण व्याख्या करें।

प्रश्न ५. 'शकन्ध्वादिषु पररूपंवाच्यम्' (वार्तिक) से बनने वाले निम्न उदाहरणों (आकृतिगण में पठित शब्दों) की प्रक्रिया लिखिए :

शकन्धु, कर्कन्धुः, मनीषा, मार्तण्डः

प्रश्न ६. 'अवङ् स्फोटायनस्य' सूत्र द्वारा गवाग्रम् और गवेन्द्रःकी सिद्धि कीजिए।

विशेष : दीर्घ उत्तरीय प्रश्नों के उत्तर मूल भाग में देखें।

✤

अथ हल्सन्धि (व्यंजन-सन्धि) प्रकरणम्

(श्चुत्वविधायकसूत्रम्)

सूत्र ६२—स्तोः श्चुना श्चुः—८।४।४०।।

सूत्रवृत्ति—सकार-तवर्गयोः शकार-चवर्गाभ्यांयोगे शकार-चवर्गौस्तः।

रामश्शेते। रामश्चिनोति। सच्चित्। शार्ङ्गिञ्जयः।

स्तोरिति—सकार और तवर्ग के स्थान में शकार और चवर्ग उस अवस्था में हो जाता है, जब शकार और च वर्ग का योग हो।

रामश्शेते—'रामस् + शेते' इस स्थिति में यहाँ 'शेते' को शकार का योग है, अतः 'स्तोःश्चुना श्चु' सूत्र से रामस् के सकार के स्थान में शकार होकर '**रामश्शेते**' अभीष्ट रूप सिद्ध होता है।

रामश्चिनोति—'रामस् + चिनोति' इस स्थिति में यहाँ 'चिनोति' च (च वर्ग) का योग है; अतः 'स्तोःश्चुनाश्चुः' सूत्र से सकार के स्थान पर शकार होकर 'रामश्चिनोति' यह अभीष्ट रूप सिद्ध होता है।

सच्चित्—'सत् + चित्' इस स्थिति में यहाँ चित् के च (च वर्ग) का 'सत्' के त् (त वर्ग) के साथ योग है। अतः 'स्तोः श्चुनाश्चुः' सूत्र के द्वारा सत् के त् (त वर्ग) के स्थान पर च् (च वर्ग) होकर 'सच्चित्' यह अभीष्ट रूप सिद्ध होता है।

शार्ङ्गिञ्ज्यः 'शार्ङ्गिन् + जयः' इस स्थिति में यहाँ 'जयः' के ज् (च वर्ग) के साथ 'शार्ङ्गिन्' न (त वर्ग) का योग है। अतः स्तोःश्चुनाश्चुः सूत्र के द्वारा 'शार्ङ्गिन्' के न् (त वर्ग के पञ्चमाक्षर) के स्थान पर च वर्ग के पञ्चमाक्षर (ञ) का विधान होकर 'शार्ङ्गिञ्जयः' यह अभीष्ट सन्धि रूप सिद्ध होता है।

विशेष १. प्रस्तुत सूत्र के सन्धिविधान की प्रक्रिया में यह बात अवश्य ध्यान रहे कि स्थानी के स्थान पर जो आदेश हो वे त वर्ग के स्थान पर च वर्गीय आदेश याथा संख्य (क्रमानुसार) ही होंगे। अर्थात् त्, थ्, द्, ध्, न् स्थानी के स्थान पर च्, छ, ज्, झ्, ञ आदेश क्रमानुसार ही होते हैं। जैसे—सच्चित में च वर्ग के योग में त वर्ग के प्रथम अक्षर 'त्' के स्थान पर च वर्ग का प्रथम अक्षर च होगा।

२. योग का यहाँ तात्पर्य पूर्व तथा पर में से कोई भी सम्बन्ध हो सकता है। जैसे—याच् + ना = याच्ञा।

सूत्र ६३—शात्—८।४।४४।।

सूत्रवृत्ति—शात् परस्य त वर्गस्य श्चुत्वंन स्यात्।
विश्नः। प्रश्नः।

सूत्र ६४—ष्टुना ष्टुः—८।४।४१।।

सूत्रवृत्ति—स्तोः ष्टुनायोगेष्टुः स्यात्। रामष्षष्ठः। रामष्टीको। पेष्टा। तट्टीका। चक्रिण्ढौकसे।

इसी प्रकार के 'श्चुत्व' सन्धि के अन्य उदाहरण निम्नवत् प्रस्तुत है।

सत् + चरित्रम् = सच्चरित्रम्। उत् + चयनम् = उच्चयनम्। सूर्यस् + छाद्यते = सूर्य शछाद्यते। उद् + ज्वलः = उज्ज्वलः। विपद् + ज्वाला = विपज्ज्वाला। कश्चिद् + जनः = कश्चिज्जनः। कस् + चित् = कश्चित्। मेधाविन् + जयतु = मेधाविञ्जयतु। हरिस् + चलति = हरिश्चलति। केशवस् + शेते = केशवश्शेते। याच + ना = याच्ञा।

शादिति—शकार से परे त वर्ग के स्थान पर श्चुत्व नहीं होता है। (यह ६३वाँ सूत्र 'स्तोः श्चुना श्चुः सूत्र का निषेधक है।)

विश्नः—'विश् + नः' इस स्थिति में शकार के योग में 'न' (त वर्ग) के स्थान में 'स्तोःश्चुनाश्चुः' से च वर्ग (ञ्) प्राप्त था, परन्तु 'शात्' सूत्र से उसका निषेध होने से 'विश्नः' ऐसा ही रूप बनेगा।

प्रश्नः—'प्रश् + नः' इस स्थिति में यहाँ शकार के योग में न (त वर्ग) के स्थान पर 'स्तोः श्चुना श्चुः' सूत्र से च वर्ग (ञ्) प्राप्त था किन्तु 'शात्' सूत्र से उसका निषेध होकर 'प्रश्नः' यही रूप सिद्ध हो जाता है।

ष्टुनेति—सकार और त वर्ग के स्थान में षकार और ट वर्ग का विधान हो जाता है यदि षकार और च वर्ग का योग हो तो।

रामष्षष्ठः—'रामस् + षष्ठः' इस स्थिति में रामस् के सकार और 'षष्ठः' के षकार के योग में 'ष्टुना ष्टुः' सूत्र से रामस् के सकार के स्थान में षकार होकर रामष्षष्ठः' रूप सिद्ध होता है।

रामष्टीकते—'रामस् + टीकते' इस स्थिति में रामस् के सकार और टीकते के टकार (ट वर्ग) के योग में ष्टुना ष्टुः' सूत्र से रामस् के सकार के स्थान में षकार होकर 'रामष्टीकते' रूप सिद्ध होता है।

पेष्टा—'पेष् + ता' इस स्थिति में पेष्' के षकार और ता के योग में त् (त वर्ग) के स्थान में 'ष्टुना ष्टुः' सूत्र से 'ट्' (ट वर्ग) होकर 'पेष्टा' यह रूप सिद्ध होता है।

तट्टीका—'तत् + टीका' इस स्थिति में यहाँ तत् के तकार और टीका के ट वर्ग के योग में तत् के तकार के स्थान में ट् (ट वर्ग) होकर 'तट्टीका' यह रूप सिद्ध होता है।

सूत्र ६५—न पदान्ताट्टोरनाम्—८।४।४२।।

सूत्रवृत्ति—पदान्ताट् टवर्गात् परस्दानामः स्तोः ष्टुर्न स्यात्। षट् सन्तः। षट् ते। पदान्तात् किम्–ईट्टे। टोः किम् सर्पिष्टम्।

वार्तिक (वा०) अनाम्नवतिनगरीणामिति वाच्यम्। षण्णाम्। षण्णवतिः। षण्णगर्यः।

सूत्र ६६—तोः षि—८।४।४३।।

सूत्रवृत्ति—नष्टुत्वम्। सन् षष्ठः।

चक्रिण्ढौकसे--'चक्रिन् + ढौकसे' इस स्थिति में ढौकसे के ढ् (ट वर्ग) तथा 'चक्रिन्' के न् (त वर्ग) के योग में ष्टुना ष्टुः' सूत्र से 'चक्रिन्' के न् (त वर्ग) के स्थान में ण् (ट वर्ग का पञ्चमाक्षर) होकर 'चक्रिण्ढौकसे' यह अभीष्ट रूप सिद्ध होता है।

विशेष—'ष्टुना ष्टुः' सूत्र के योग के वर्णों में अर्थात् षकार और ट वर्ग में विधान क्रमशः (यथासंख्य) नहीं है और योग के लिए भी पूर्व पर शब्दों का विचार नहीं है अर्थात् षकार और ट वर्ग में से किसी एक का कहीं भी पूर्व या पर का योग होने पर ष्टुत्व (षकार) और ट वर्ग में से किसी एक का कहीं भी पूर्व या पर का योग होने पर ष्टुत्व और ट वर्ग हो जाता है। एतदर्थ 'तो षिः' यह अग्रिम सूत्र प्रमाण है।

अभ्यासार्थ अन्य उदाहरण प्रस्तुत हैं—कृष्णस् + षष्ठः = कृष्णष्षष्ठः, धुनस् + टंकारः = धनुष्टंकारः, चत्वारस् + षट्पदाः = चत्वारष्षटपदाः, पदार्थास् + पट् = पदार्थाष्पट्। प्रष् + तारः प्रष्टारः इत्यादि।

न पदान्तादिति—पदान्त अर्थात् पद के अन्त में वर्तमान ट वर्ग से परे 'नाम्' से भिन्न सकार और त वर्ग को ष्टुत्व नहीं होता है।

विशेष—यह सूत्र 'ष्टुनाष्टुः' का निषेधक सूत्र है। अतः निम्न उदाहरणों में ष्टुत्व नहीं हुआ है।

षट्सन्तः—'षट् + सन्तः' इस स्थिति में पदान्त टकार है और 'षट्' का टकार तथा उससे परे सन्तः का सकार है। अतः यहाँ ट वर्ग के योग में सकार के स्थान में प्राप्त ष्टुत्व का निषेध 'न पदा०' सूत्र से होने पर 'षट्सन्तः' ही रूप रहेगा।

षट्ते—'षट् + ते' इस स्थिति में यहाँ ट वर्ग और त वर्ग के योग में तकार के स्थान में 'ष्टुनाष्टु' से ष्टुत्व प्राप्त था किन्तु 'न पदान्ता' इत्यादि सूत्र से उसका निषेध होकर 'षट्ते' यही रूप होगा।

पदान्तात् किम्—'न पदान्ताट्टोरनाम्' सूत्र पदान्त ट वर्ग से परे सकार और त वर्ग के ष्टुत्व का निषेध करता है, न कि अपदान्त ट वर्ग से परे सकार ट वर्ग का। अतः ईट् + ते 'में अपदान्त होने से उसका निषेध न होकर इट्टे यह रूप बनता है।

(वा०) अनामिति—'न पदान्ताट्टोरनाम्' सूत्र द्वारा केवल नाम् से भिन्न त वर्ग को ट वर्गत्व का निषेध किया गया है। अत: एक सूत्र में 'अनाम्' कहा गया है परन्तु

टो: किम्—'न पदान्ताट्टोरनाम्' सूत्र ट वर्ग से ही परे त वर्ग के ही ष्टुत्व का निषेध करता है, षकार से परे नहीं। अन्त: 'सर्पिष् + तमम् इस स्थिति में यहाँ षकार से परे त वर्ग के त् होने से 'न पदान्ता' सूत्र से ष्टुत्व का निषेध नहीं होगा। अत: इसके परिणाम स्वरूप ष्टुनाष्टु:'

सूत्रसे षकार के योग में तकार का टकार होकर 'सर्पिष्टिम्' यह रूप सिद्ध होता है। वार्तिककार का कहना है कि न केवल नाम् अपितु नाम्, नवति, नगरी शब्दों को छोड़कर त वर्ग को ट वर्गत्व का निषेध करना चाहिए अर्थात् नाम्, नवति: नगरी शब्दों को छोड़कर 'न पदान्ताट्टोरनाम्' सूत्र ष्टुत्व का निषेध करें' कहने का आशय है कि नाम, नवति, नगरी में निषेध की विधि न लगे अर्थात् इनमें ष्टुत्व हो जाये, ऐसा कहना चाहिए। अत: उक्त वर्तिक के अनुसार इन शब्दों में ट वर्गत्व का निषेध नहीं होगा।

षण्णाम्—'षड् + नाम्' इस स्थिति में यहाँ नाम शब्द के परे होने से 'अनामिति' (वा०) के द्वारा ष्टुत्वनिषेध न हो सकने के कारण 'ष्टुनाष्टु:' सूत्र से त वर्ग एवम् डकार (टवर्ग) का योग होने से (न) तवर्ग को टवर्ग का पञ्चमाक्षर णकार होकर 'षण्णम्' बनने पर 'प्रत्यये भाषायां नित्यम्' इस वार्तिक से प्रत्यय 'णाम्' के अनुनासिक णकार के परे होने पर डकार के स्थान पर णकार (अनुनासिकवर्ण) होकर 'षण्णाम्' यह रूप सिद्ध होता है।

षण्णवति:—'षड् + नवति' इस स्थिति में यहाँ नवति शब्द परे होने से 'अनामिति' (वा०) से न पदान्ताटटोरनाम् सूत्र से ष्टुत्व का निषेध न होकर ष्टुनाष्टु: सूत्र से ट वर्ग (डकार) के से योग में त वर्ग (नकार) के स्थान में ट वर्ग (णकार) होकर 'षट् + णवति:' इस स्थिति में यरोऽ नुनासिकेऽनुनासिको वा' इस अग्रिम सूत्र से यहाँ अनुनासिक वर्ण णकार परे होने से डकार को णकार अनुनासिक होकर 'षण्णवति:' यह रूप सिद्ध होता है। 'यरोऽनुनासिके०' सूत्र वैकल्पिक विधायक पर होने से 'षड्णवति:' यह भी रूप बनता है। इसी प्रकार 'षण्णगर्य:' रूप भी इसी विधि से बनता है।

तो:षीति०—षकार के परे होने पर त् वर्ग को ष्टुत्व नहीं होता है।

सन्षष्ठ:—'सन् + षष्ठ:' इस स्थिति में षष्ठ: के षकार के परे रहने पर अर्थात् तवर्ग (नकार) और षकार के येग में 'ष्टुनाष्टु:' से ष्टुत्व प्राप्त होता है किन्तु तो: षि' सूत्र से ष्टुत्वका निषेध होकर 'सन्षष्ठ:' ही रूप सिद्ध होता है।

(जश्त्व विधायकं सूत्रम्)

सूत्र ६७—झलांजशोऽन्ते—८।२।३९।।

सूत्रवृत्ति—पदान्ते झलांजशः स्युः। वागीशः।

(अनुनासिक विधायकं सूत्रम्)

सूत्र ६८—यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा—८।४।१५।।

सूत्रवृत्ति—यरः पदान्तस्यानुनासिके परेऽनुनासिको वा स्यात्।

एतन्मुरारिः। एतद्मुरारिः।

झलामिति—पदान्त में झल् वर्णों (अर्थात् झल् प्रत्याहार के अन्तर्गत आने वाले वर्णों) के स्थान पर जश्वर्ण अर्थात् वर्गों के तीसरे अक्षर ज्, ब्, ग्, ड्, द् हो जाते हैं।

विशेष—'झलांजशोऽन्ते' सूत्र का कोई विशेष निमित्त नहीं है अर्थात् इसके द्वारा होने वाली जश्त्वसन्धि विधि के लिए किसी वर्ण का पर में (बाद में) अथवा आगे रहना आवश्यक नहीं है। अतएव यह सूत्र व्यञ्जन वर्णों एवं स्वर वर्णोंके पद में (आगे) रहने पर जश्त्व करने की विधि बताता है। जैसा कि उसके उदाहरणों से स्पष्ट है।

वागीशः—'वाक् + ईशः' एस अवस्था में पदान्त झल् वर्ण 'वाक्' का क् है अतः 'झलां जशोऽन्ते' सूत्र से क् के स्थान पर जश वर्ण क वर्गीय ग् (तृतीय वर्ण) होगा। अतः 'वागीश'' यह रूप बनता है। इसी प्रकार के अन्य उदाहरण अभ्यासार्थ निम्नवत् हैं—दिक् + ईशः = दिगीशः। अच् + अन्तः = अजन्तः। षट् = इमे = षडिमे। तत् + इति = तदिति। सुप् + अन्तः सुबन्तः। रत्नमुट् + धावति = रत्नमुड् धावति। कतिचित् + दिनानि = कतिचिद् दिनानि। वाक् + हरि = वाग् हरिः। अच् + हीनम् =अज्हीनम् जलमुक् + धावति = जलमुग्धावति। मधुलिट् + गुञ्जति = मधुलिड् गुञ्जति।

यर इति—पदान्त यर् अर्थात् यर् प्रत्याहारान्तर्गतवर्णों के स्थान में अनुनासिक वर्ण ही विकल्प से हो जाता है, यदि उससे परे अनुनासिक वर्ण हो।

एतन्मुरारिः—'एतद् + मुरारिः' इस स्थिति में यहाँ पदान्त यर् वर्ण द् है और उसके आगे अनुनासिक वर्ण 'मुरारिः' का मकार है। अतः 'यरोऽनु०' इत्यादि सूत्र से द् के स्थान में त वर्गीय अनुनासिक वर्ण न् हो जाने पर 'एतन्मुरारि' यह रूप सिद्ध होता है। अनुनासिक विकल्प से होता है अतः अनुनासिक के अभाव पक्ष में एतद्मुरारिः' भी रूप बनेगा।

इसी प्रकार अन्य उदाहरण अभ्यासार्थ प्रस्तुत है—धिक् + मूढ़ः' = धिङ्मूढः (विकल्पता) धिग्मूढ़ः। षड् + मेधाविनः = षण्मेधाविनः, षड्मेधाविनः (विकल्पतः) त्वग् + मनसी = त्वङ्मनसी, त्वग्मनसी। मद् + नीतिः = मन्नीतिः मदनीतिः। तद् + नयः = तन्नयः तद्नयः। इसी प्रकार विद्वन्मण्डलेम्, उन्नतिः, उन्नायकः, उन्मना इत्यादि रूप बनते हैं।

वा० (वार्तिक:) प्रत्यये भाषायां नित्यम् तन्मात्रम्। चिन्मयम्।

सूत्र ६९—तोर्लि—८।४।६०।।

सूत्रवृत्ति—त वर्गस्य लकारे परे पर सवर्णः। तल्लयः। विद्वांल्लिखति। नस्यानुनासिको लः।

(वा०) प्रत्यय इति—ऐसे प्रत्यय के आगे (परे) रहने पर जिसके आदि में अनुनासिक वर्ण हो; पदान्त यर् वर्णों के स्थान में नित्य अनुनासिक वर्ण हो जाता है।

विशेष—'यरोऽनु०' इत्यादि सूत्र द्वारा अनुनासिक का विधान यद्यपि विकल्पतः किया जाता है, परन्तु यहाँ वार्तिककार कात्यायन के मत से अनुनासिकादि (अर्थात् जिस के प्रारम्भ में अनुनासिक वर्ण हो ऐसे) प्रत्यय के परे रहने पर पर को अनुनासिक अनिवार्यतः हो जाता है।

तन्मात्रम्—'तद् + मात्रम्' इस स्थिति में यहाँ 'मात्रम्' प्रत्यय (अनुनासिकादि अर्थात् जिसके आदि में अनुनासिक वर्ण) वाला 'मात्रम्' का मकार यर् प्रत्याहार के दकार से परे है, अतः 'प्रत्यये भाषायां नित्यम्' वार्तिक से दकार के स्थान पर त वर्गीय अनुनासिक वर्ण नकार नित्य होकर 'तन्मात्रम्' यह अभीष्ट सन्धि रूप सिद्ध होता है।

चिन्मयम्—'चिद् + मयम्' इस स्थिति में अनुनासिकादि 'मयम्' का मकार परे रहते हैं। अतः 'प्रत्यये भाषायां नित्यम्' वार्तिक के नियम से यहाँ यर चिद् के दकार (यर्) के स्थान पर नित्य (अनिवार्यतः) अनुनासिक वर्ण न कार होकर 'चिन्मयम्' यह अभीष्ट रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार वाङ्यम्, अम्मयम्, एतन्मात्रम्' षण्णाम्, मृन्मयम् इत्यादि उदाहरण होंगे।

तोर्लीति—त वर्ग के स्थान में पर सवर्ण आदेश हो जाता है, यदि उससे परे लकार (लवर्ण) आये।

तल्लयः—'तद् + लयः' इस स्थिति में त वर्ग द् से परे यहाँ लय का लकार आया है। अतः 'तोर्लि' सूत्र से 'द्' को 'ल्' आदेश होकर 'तल्लयः' सन्धि रूप सिद्ध होता है।

विशेष १. पर सवर्ण का अर्थ है, पर में जो वर्ण हो उसका सवर्णी वर्ण का आदेश हो। यहाँ पर पद में ल् है और ल् का सवर्ण वर्ण ल् ही होता है, अस्तु द् के स्थान में ल् आदेश होगा।

विद्वांल्लिखति—'विद्वान् + लिखतिः' इस स्थिति में त वर्ग 'न्' से परे 'लिखति' का ल् है; अतः तोर्लि सूत्र से 'न्' को 'ल्' परसवर्ण वर्ण होगा, क्योंकि 'न' का परसवर्ण वर्ण 'ल्' ही है क्योंकि दोनों का एक समान ही उच्चारण स्थान लृतुलसाना दन्ताः' के अनुसार दन्त है।

२. वस्तुतः 'न्' में त वर्गत्व एवम् अनुनासिकत्व दो धर्म है अतः त वर्गत्व का अनुनासिकत्व धर्म के साथ ल आदेश होता है।

(पूर्वसवर्ण विधायकं सूत्रम्)

सूत्र ७०—उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्यः—८।४।६१।।

सूत्रवृत्ति—उद:परयो: स्थास्तम्भोः पूर्वसवर्णः।

(परिभाषा सूत्रम्)

सूत्र ७१—तस्मादित्युत्तरस्य—१।१।६७।।

सूत्रवृत्ति—पञ्चमीनिर्देशेन विधीयमानं कार्यंवर्णान्तरेणा व्यवहितस्य परस्य ज्ञेयम्।

सूत्र ७२—आदेः परस्य—१।१।५४।।

सूत्रवृत्ति—परस्य यदिविहितं तत्तस्यादे र्बोध्यम्।

(इति सस्य थः।)

उद इति—उद् उपसर्ग से परे स्था और स्तम्भ धातुओं के स्थान पर पूर्व सवर्ण हो अर्थात् पूर्व शब्द में जो वर्ण हो, उसका ही सवर्णी वर्ण हो।

उत्थानम्, उत्तम्भम्—'उद् + स्थानम् और' उद् + स्तम्भनम्' इन दोनों उदाहरणों की इस स्थिति में यहाँ उद् उपसर्ग से परे स्था तथा स्तम्भ धातु है। अत: 'उदः स्था स्तम्भोः पूर्वस्य' सूत्र से उद् से परे सम्पूर्ण स्था और स्तम्भ धातु को पूर्व अर्थात् द् के स्थान पर सवर्ण वर्ण प्राप्त होगा; तब 'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से स्था और स्तम्भ के अन्त्य वर्ण अर्थात् थ् और त् को पूर्व सवर्ण ओदश प्राप्त होगा। अत: किस के स्थान पर पूर्व स्वर्ण हो; इसका निर्णय करने के लिए अगिम नियामक परिभाषा सूत्र है—

तस्मादिति—पञ्चमी विभक्ति का अर्थात् पञ्चम्यन्त पद का उच्चारण कर जिस कार्य का विधान किया गया हो; वह कार्य उस पञ्चम्यन्त पर से बोधित अन्य वर्ण से व्यवधान रहित पर वर्ण के स्थान में हो। अर्थात् स्थानी और निमित्त के बीच अन्य किसी वर्ण का व्यवधान नहीं होना चाहिए।

उक्त उदाहरणों की उक्त स्थिति में उदःस्था—स्तम्भेः पूर्वस्य 'सूत्र से उद्' इन पञ्चम्यन्त पद का उच्चारण कर पूर्व सवर्ण का विधान किया गया है, अत: तस्मादिति सूत्र के नियम से यह पूर्व सवर्ण रूप कार्य उद् तथा स्था और स्तम्भु के बीच जब किसी अन्य वर्ण का व्यवधान नहीं होगा; तब परसवर्ण के स्थान में यह कार्य होगा अर्थात् थ् और त् के स्थान में होगा।

आदेरिति—जिस कार्य का विधान पर के स्थान में किया गया है, वह पर के आदि वर्ण के स्थान में हो।

विशेष—यहाँ पर वर्ण थ और त के स्थान में पूर्व सवर्ण का विधान किया जा रहा था, परन्तु यह सूत्र बतलाता है कि पर को जो कार्य होना है, वह उसके आदि वर्ण को हो। अत: उक्त स्थिति में अब पूर्व सवर्ण थ् और त् के आदि वर्ण स के स्थान में होगा, स् का पूर्व सवर्ण वर्ण थ है। अत: स् के स्थान में थ होगा। इसी लिए सूत्रवृत्तिक मूल

सूत्र ७३—झरो झरि सवर्णे—८।४।६५।।

सूत्रवृत्ति—हल: परस्य झरोवालोप: सवर्णे झरि।

सूत्र ७४—खरि च—८।४।५५।।

सूत्रवृत्ति—खरि झलां चर: स्यु:। इत्युदो दस्यत:। उत्थानम्। उत्तम्भनम्।

सूत्र ७५—झयो होऽन्यतरस्याम्—८।४।६२।।

सूत्रवृत्ति—झय: परस्य हस्य वा पूर्व सवर्ण:। नादस्य घोषस्य संवारस्य महाप्राणस्य

हस्य तादृशो

वर्णचतुर्थ:—वाग्घरि:—वाग्हरि:।

पाठ में लिखा गया है—'इति सस्य थ:'। स् के स्थान में थ् होने का जो कारण है वह

यह है कि दोनों का एक समान प्रयत्न और स्थान होगा। स् थ् और दोनों का

विवार-श्वास-अघोष और महाप्राण यत्न है। अत: स् को थ् ही होगा।

इस प्रकार स् को थ् होने पर—'उद् थ् थानम्' तथा उद् थ् तम्भनम्' यह स्थिति होगी।

झर् इति—हल् से परे झर् अर्थात् (झर् प्रत्याहारान्तर्गत वर्णों) का लोप हो

विकल्प से, जबकि उनसे परे सवर्ण झर् वर्ण हो।

उक्त स्थिति में हल् वर्ण दकार से परे झर्, वर्ण थ् है और उसके भी आगे सवर्ण

झर् वर्ण थ् और त् है। अत: 'झरो झरिसवर्णे' सूत्र से पूर्व थ् का लोप हो जायेगा। तब

'उद् + थानम्', 'उद्तम्भनम्' यह स्थिति होने पर—

खरिचेति—खर् (अर्थात् खर् प्रत्याहारान्तर्गत वर्णों) के आगे या उसके परे होने

पर झर् वर्णों के स्थान पर चर् वर्ण (वर्गों के प्रथम अक्षर) हो जाते हैं। अतएव,

उपर्युक्त दोनों उदाहरणों की उक्त स्थिति में खर् वर्ण '**थ**' और 'त' वर्ण आगे अथवा

परे हैं और झल् वर्णों में यहाँ दकार (द्) है। अत: द् को 'खरि च' सूत्र से चर् वर्ण

अर्थात् 'त्' वर्ण हो जाने पर '**उत्थानम्**' और '**उत्तम्भनम्**' सन्धि रूप सिद्ध होते हैं।

विशेष—लोप के वैकल्पिक होने के कारण यहाँ जब थ् का लोप नहीं होगा, तब

'खरि च' सूत्र से द् और थ् दोनों को चर् वर्ण त् होकर उत्त्थानम् और उत्तम्भनम् ये भी

रूप बनते हैं।

इसी प्रकार उत्त्थापक:, उत्त्थिति:, उत्त्थापयति आदि अन्य उदाहरण उक्त नियम के

ही होते हैं।

झयवृत्ति—झय् (अर्थात् झय् प्रत्यहारान्तर्गत वर्णों) से परे हकार के स्थान पर पूर्व

सवर्ण आदेश हो विकल्प से।

वाग्घरि:—'वाक् + हारि:' इस स्थिति में '**झलांजशोऽन्ते**' सूत्र से पदान्त झल् वर्ण

'क्' के स्थान पर जश् वर्ण (वर्ग का तृतीय अक्षर) ग् होगा, तब 'झय' वर्ण ग् से परे

हकार को 'झयो होऽन्यतरस्याम्' सूत्र से घकार होकर '**वाग्घरि:**' सन्धि रूप बनता है,

परन्तु पूर्व सवर्ण के प्रस्तुत सूत्र द्वारा वैकल्पिक होने से पूर्वसवर्ण के अभाव पक्ष में

'वाग्हरि:' रूप भी बनेगा। इस प्रकार से ये दो रूप बनेंगे।

सूत्र ७६—शश्छोऽटि—८।४।६३।।

सूत्रवृत्ति—झय: परस्य शस्य छो वाऽटि तद् शिव इत्यमदस्य श्चुत्वेन जकारे कृते, खरिचो ति जकारस्य चकार:। तच्छिव:, तच्शिव:।

(अनुस्वर विधायकं सूत्रम्)

सूत्र ७७—मोऽनुस्वार:—७।३।२३।।

सूत्रवृत्ति—मान्तस्य पदस्यानुस्वारो हलि। हरिं वन्दे।

सूत्र ७८—नश्चपदान्तस्य झलि—८।३।२४।।

सूत्रवृत्ति—नस्य मस्य चापदान्तस्य झल्यनु स्वार:।

यशांसि। आक्रंस्यते। झलि-किम्-मन्यसे।

विशेष—यहाँ हकार का पूर्व वर्ण ग् है; अत: हकार के स्थानों में कवर्गीय 'घ' वर्ण होगा; क्योंकि हकार का प्रयत्न नाद, घोष, संवार तथा महाप्राण है। अत: उसके स्थान में समान प्रयत्न वाले प्रत्येक वर्ग के चतुर्थ अक्षर घढधझभ ही होंगे। पूर्व वर्ण क वर्गीय के साथ ह कार को घ कार तथा च वर्गीय के साथ झकार एवं ट वर्गीय के साथ ढ कार और त वर्गीय के साथ ध कार व प वर्गीय के साथ भकार होगा। यही क्रम सर्वत्र जानना चाहिए।

अतिरिक्त उदाहरण निम्नवत् प्रस्तुत हैं—दिग् + हस्ती = दिग्घस्ती दिग्हस्ती। अन् + हीनम् = अज्झीनम्, अज्हीनम् रत्नमुड् + हरति = रत्नमुड्ढरति, रत्नमुड्हरित जगद् + हर्ष = जगद्धर्ष:, जगद्हर्ष:। तद् + हितम् = तद्धितम्, तद्हितम्। ककुप् + हस्ती = ककुब्भस्ती, ककुब्हस्ती।

शश्छोऽति—झय् प्रत्याहरान्तर्गत वर्णों से परे शकार के स्थान में छकार हो जाता है विकल्प से, यदि उससे भी परे अट्प्रत्याहारान्तर्गत वर्ण (स्वर तथा हय वर) होवें तो उक्त विधान लागू होता है।

तच्छिव:—'तद् + शिव:' इस स्थिति में 'स्तोश्चुना श्चु:' सूत्र से शकार के योग में त वर्गीय दकार को चवर्गीय तृतीय वर्ग जकार होगा एवं 'खरिच' सूत्र से खर वर्णों में शकार परे रहने से जकार के स्थान में चर् वर्ण अर्थात् चकार होगा—तब 'तच् + शिव:' इस स्थिति में अट् प्रत्याहरान्तर्गत वर्ण इकार के परे होने से झय् वर्ण चकार के परे शकार को '**शश्छोऽटि**' सूत्र से छकार होकर तच्छिव:' रूप बनता है। छत्व विधि वैकल्पिक होने से 'तच्शिव:' यह भी द्वितीय रूप बनता है। अन्य उदाहरण (छत्वविधिपरक) तद् + शास्त्रम् = तच्छास्त्रम् तच्शास्त्रम्। वाग् + शूर : वाक्छूर: वाक्शूर, जगद् + शान्ति: = जगच्छान्ति: जगच्शान्ति:। मत् + श्वसुर: मच्छ्वसुर, मच्श्वसुर:। यावत् + शक्यम् = यावच्छ्क्यम्, यावच्शक्यम्।

मोऽनुस्वार:—मकारान्त पद के स्थान पर हल् प्रत्याहार (व्यञ्जनों) के परे रहने पर नित्य अनुस्वार हो जाता है।

(परसवर्ण विधि सूत्रम्)

सूत्र ७९—अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः—७।४।५८।।

सूत्रवृत्ति—स्पष्टम्। शान्तः।

सूत्र ८०—वा पदान्तस्य—८।४।५९।।

सूत्रवृत्ति—त्वङ्करोषि। त्वंकरोषि।

विशेष—उक्त सूत्र में 'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा के बल से ही अन्तिम वर्ण म के स्थान पर अनुस्वार होता है सम्पूर्ण पद के स्थान पर नहीं।

हरिंवन्दे—'हरिम् + वन्दे' इस स्थिति में यहाँ मकारान्त पद 'हरिम्' है। इसके अन्तिम वर्ण म् के स्थन पर मोऽनुस्वारः सूत्र से अनुस्वार होगा क्योंकि उसके परे हल् (व्यञ्जन) वर्ण वन्दे का व्कार हैं इसी प्रकार रामम् + नामामि = रामं नमामि इत्यादि।

नश्चेति—अपदान्त जो नकार और मकार उसको अनुस्वार हो जाता है यदि उससे परे झल् प्रत्याहारान्त वर्ण हों

यशांसि—'यशान् + सि' इस स्थिति में 'यशान्' के अपदान्त नकार से परे झल् प्रत्याहार सकार होने से 'नश्चा पदान्तस्य झलि' सूत्र के नियम से नकार को अनुस्वार हो कर 'यशांसि' यह रूप सिद्ध होता है।

आक्रंस्यते—'आक्रम् + स्यते' इस स्थिति में यहाँ पदान्त मकार 'आक्रम्' का मकार है और उससे परे झल् वर्ण सकार (स्) है। अतः **'नश्चपदान्तस्यझलि'** सूत्र से मकर को अनुस्वार होकर 'आक्रंस्यते' यह रूप सिद्ध होता है।

विशेष—यहाँ पर जो 'यशांसि' यह सम्पूर्ण सुबन्त पद है तथा 'आक्रंस्यते' यह पूर्णतः तिङन्त पद है और इनके बीच के 'न्' एवम् 'म्' अपदान्त ही होने से 'नश्चपदान्तस्य झलि' सूत्र द्वारा उन्हें यह सूत्र अनुस्वार करता है।

झलि किम्—'नश्चपदान्त्स्य झलि' सूत्र से 'झल्' वर्णों के परे होने पर ही अपदान्त मकरान्त तथा नकरान्त शब्दों के मकार और नकार को अनुस्वार होता है। अतः 'मन् + यस' इस स्थिति में अपदान्त नकार के पश्चात् 'यसे का यकार झल् प्रत्याहारान्तर्गत नहीं होने से यहाँ वह नकार अनुस्वार नहीं होगा। अत एव 'मन्यसे' ऐसा ही रूप बनता है।

इसी प्रकार-'पयान् + सि = पयांसि, 'मनान् + सि' = मनांसि, अनम् + स्यत् = अनंस्यत्, नम् + स्यति = नंस्यति इत्यादि पद प्रयोग किये जाते हैं।

अनुस्वारस्येति—यय् प्रत्याहारान्तर्गत वर्णों के परे (बाद में) होने पर अनुस्वार के स्थान में परसवर्ण अर्थात् पर वर्ण के सवर्ण वर्ण का आदेश हो जाता है।

सूत्र ८१—मो राजि समः क्वौ—८।३।२५।।

सूत्रवृत्ति—क्विबन्ते राजतौ परे समोमस्यम एव स्यात्। सम्राट।

सूत्र ८२—हे मपरे वा—८।३।२६।।

सूत्रवृत्ति—मपरे हकारे परे मस्य मो वा। किम् ह्मलयति। किं ह्मलयति।

वार्तिक—यवलपरे यवलावा। कियं ह्यः, किं ह्यः।

कि वँ ह्वलयति, किं ह्वलयति। किलँ ह्लादयति, किं ह्लादयति।

विशेष—परसवर्ण से तात्पर्य प्रत्येक वर्ग के पञ्चमाक्षर के रूप में ही अनुस्वार को आदेश होता है। उदाहरणार्थ क वर्ग यदि पर वर्ण है तो अनुस्वार के स्थान पर क वर्ग का पञ्चमाक्षर 'ङ' ही होगा। इसी प्रकार च वर्ग के परवर्ण होने पर 'ञ' तथा ट वर्ग के परवर्ण होने पर 'ण्' और 'त' वर्ग के परवर्ण होने पर 'न्' एवम् प वर्गीय परवर्ण की दशा में 'म्' ही होगा। इसके अतिरिक्ति 'य् व् ल्' पर में हो तो अनुस्वार के स्थान में अनुनासिक यँ, वँ, लँ ही होंगे।

शान्तः—'शां + तः' यहाँ अनुस्वार से पर में 'यय्' प्रत्याहारान्तर्गत वर्णों में तकार परे है अतः 'अनुस्वारस्य यय परसवर्णः' सूत्रानुसार पर अर्थात् तकार का सवर्ण वर्ण तवर्गीय पञ्चमक्षर न कार होगा। इस प्रकार 'शान्तः' यह रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार अं + कितः = अङ्कितः, अं + चितः = अञ्चितः, कुं + ठितः = कुण्ठितः इत्यादि।

वा पदान्तस्य—'यय्' प्रत्याहारान्तर्ग वर्णों के परे रहने पर यदि पदान्त अनुस्वार हो तो उसके स्थान पर पर सवर्ण विकल्प से होता है। जैसे त्वङ् करोषि, त्वं करोषि।

त्वं करोषि—'त्वम् + करोषि' इस स्थिति में प्रथमतः पदान्त मकार का मोऽनुस्वारः, सूत्र से अनुस्वार होकर त्वं करोषि रूप बनता है तथा 'वा पदान्तस्य' सूत्र से पदान्त अनुस्वार का क वर्ग परे रहते क वर्ण परे रहने से क वर्गीय पञ्चमाक्षर ङकार होकर 'त्वङ् करोषि' बनेगा किन्तु वैकिल्पक होने से 'त्वं करोषि' भी रूप बनता है।

मोराजीति—क्विप् प्रत्यय जिसके अन्त में हो, ऐसी राज् धातु के परे रहने पर अर्थात् क्विप् प्रत्ययान्त राज् धातु के रूप के परे रहने पर म् के मकार को अनुस्वर न होकर मकार (म्) ही रहता है।

सम्राट—'सम् + राट्' इस स्थिति में यहाँ 'राज्' धातु से क्विप् प्रत्यय करके निर्मित (निष्पन्न) हुए 'राट्' शब्द के आगे अथवा परे रहने पर 'मो राजिसमः क्वौ' सूत्र से 'सम्' उपसर्ग के म् (मकार) को मकार ही रहेगा अर्थात् उसे अनुस्वर नहीं होगा। अस्तुः 'सम्राट' शब्द इस प्रकार सिद्ध होता है।

विशेष १. 'मो राजि०' इत्यादि सूत्र निरवकाश होने से 'मोऽनुस्वारः' सूत्र का अपवाद है। अर्थात् यहाँ हल् वर्ण के परे रहने पर भी 'मोऽनुस्वारः' सूत्र से प्राप्त मकार के स्थान पर अनुस्वार विधि को यह सूत्र रोक देता है। इस प्रकार म् (मकार) को यहाँ

सूत्र ८३—नपरे नः—८।३।२७।।

सूत्रवृत्ति—नपरे हकारे परे मस्य नो वा। किन् ह्नुतेकिह्नुते।

मकार ही उक्त सूत्र से किया गया है। यदि 'मोराजि०' सूत्र नहीं होता तो यहाँ भी म् को अनुस्वार विधि लागू होती।

२. राज् धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर उसका सर्वापहार लोप होकर 'राट्' शब्द बनता है क्योंकि 'राज्' के जकार को षकार और क्रमशः डकार तथा टकार होकर उक्त शब्द निष्पन्न हो जाता है।

हेमपरेवेति—म परक हकार परे रहने पर अर्थात् ऐसे हकार के परे रहते, जिससे परे मकार हो, तब मकार के स्थान पर मकार विकल्पतः होता है।

किम्ह्मलयति—'किम् + ह्मलयति' इस स्थिति में 'किम्' शब्द के मकार के परे ऐसा हकार है कि जिसके परे मकार है; अतः 'हे मपरे वा' सूत्र से म् के स्थान पर मकार का ही आदेश होगा किन्तु यह नियम वैकल्पिक है। इसलिए 'किम्ह्मलयति' तथा उसके अभाव पक्ष में उसे अनुस्वार होने पर 'मोऽनुस्वारः' के नियम से 'किं ह्मलयति' रूप भी बनकर ये दोनों ही रूप बनते हैं।

विशेष—यदि यहाँ **'हेमपरेवा'** सूत्र नहीं होता तो मकार का नित्य अनुस्वार ही होता अर्थात् द्वितीय रूप ही केवल निष्पन्न होता है।

(वा०) यवल पर इति—ऐसे हकार के परे रहने पर जिसके आगे (परे) य्, व्, ल्, हों तब मकार के स्थान में क्रमशः सानुनासिक यकारवकार, और लकार हों विकल्प से।

विशेष—म् के बाद अर्थात् यदि हकार के परे रहने पर तथा उससे (हकार से) परे 'य' तो तो मकार को यँ हो और यदि व कार होतो मकार को वँ हो और यदि 'ल्' होतो मकार को लँ हो। यह यकार, वकार और लकार विधान वैकल्पिक है अतः एक पक्षमे मकार को अनुस्वार भी होता है।

कियँ ह्यः—'किम् : ह्यः' यहाँ यकार परक हकार के परे रहने पर 'य्वल परे यवलावा वार्तिक से मकार को सानुनासिक यकार (यँ) होकर 'कियँ ह्यः' रूप बनता है और इसके अभाव पक्ष में मकार को अनुस्वार होकर किंह्यः रूप भी बनता है।

इसी प्रकार उक्त रूपों की भाँति 'किम् + ह्वलयति' इस स्थिति में व कार परक हकार होने पर उक्त वार्तिक द्वारा मकारको **सानुनासिक** वँ होकर **कि वँ ह्वलयति** और वैकल्पिक पक्ष में किं ह्वलयति ये दो रूप सिद्ध होते हैं। ऐसे ही 'किम् + ह्लादयति' इस स्थिति में लकार परक हकार होने से वार्तिक द्वारा मकार को सानुनासिक लकार (लँ) होकर 'किलँह्लादयति' एवम् अभाव पक्ष में 'किंह्लादयति' ये रूप सिद्ध होते हैं।

नपरइति—ऐसे हकार के परे रहते जिसके कि आगे नकार हो मकार के स्थान पर नकार हो विकल्प से **'किम् + ह्नुते'** इस स्थिति में यहाँ नपरक हकर परे रहने पर 'न

सूत्र ८४—आद्यन्तौ कितौ—१।१।४६।।

सूत्रवृत्ति—टिरिकतौ यस्योक्तौ तस्यक्रमादाद्यन्तावयवौस्तः।

सूत्र ८५—ङ्णोः कुक्टुक्शरि—८।३।२८।।

सूत्रवृत्ति—वा स्तः।

वा० (वार्तिक)—चयो द्वितीयाशरि पौष्करसादेरितिवाच्यम्।

प्राङ्ख् षष्ठः प्राङ् क्षष्ठः, प्राङ् षष्ठः। सुगणठ् षष्ठः, सुगणट् षष्ठः, सुगण् षष्ठः।

परे नः' सूत्र से 'किम्' के मकार को नकार होकर 'किन् ह्नुते' रूप बनता है। चूँकि नकारादेश वैकिल्पक होने से उसके अभाव पक्ष में 'मोऽनुस्वारः' सूत्र से मकार को अनुस्वार होकर 'किं ह्नुते' रूप भी सिद्ध होता है।

आद्यन्ताविति—टित् (जिसके टकार की इत्संज्ञा और लोप हुआ हो) तथा कित (जिसके ककार की इत्संज्ञा और लोप हुआ है वे टित् और कित् आगम जिस समुदाय के साथ अर्थात् शब्द के लिए किये जाते हैं। वे उसके क्रमशः आदि और अन्त के अवयव होते हैं अर्थात् टित का आदि एवं कित् का आगम इस शब्द के अन्त का अवयव बनता है।

ङ्णोरिति—शर् प्रत्याहारान्तर्गत वर्णों के परे रहने पर उकार और णकार को क्रमशः कुक् और टुक् आदेश हो; अर्थात् डकार को 'कुक्' और ण कार को 'टुक्' का आदेश हो जाता है किन्तु यह विधि वैकल्पिक है।

विशेष—टित् और कित् आगमों के स्थान निर्धारण के सम्बन्ध में 'आद्यन्तौटकितौ' सूत्र बतलाता है कि आगम यदि टित् हो तो वह जिस शब्द के लिये कहा गया है, उसके आदि में हो, जैसे 'ङःसिधुट्' सूत्र द्वारा डकार से परे सकार को 'धुट्' का आगम किया जाता है, अतः यह आगम टित् होने के कारण सकार के आदि में होता है। एवं ङ्णो कुक् टुक् शरि' सूत्र द्वारा किया जाने वाला कुक् टुक् आगम कित् होने के कारण क्रमशः डकार और णकार के अन्त में होता है।

(वा०) चयइति—चय् प्रत्याहारान्तर्गत अर्थात् च्, ट्, त्, क्, प् वर्णों के स्थान में इनके द्वितीय वर्ण हो, जबकि इनके आगे शर् वर्ण हो। पौष्करसादि नामक आचार्य के मत में, किन्तु इस द्वितीय वर्ण का आदेश पाणिनि आचार्य के मत में नहीं होगा। अस्तु इस आदेश को वैकल्पिक कहा जायेगा।

प्राङ्ख् षष्ठः—'प्राङ् + षष्ठः' इस स्थिति में शर् वर्ण के षष्ठ् का ष् परे है और पूर्व पद में ङ्कार है। अतः 'ङ्णो कुक्टुक् शरि' सूत्र से 'कुक्' का आगम होगा और

सूत्र ८६—डः सि धुट्—८।३।२९।।

सूत्रवृत्ति—डात् परस्य सरस्य धुड्वा। षट्त्सन्तः षट्सन्तः।

सूत्र ८७—नश्च—८।३।३०।।

सूत्रवृत्ति—नान्तात् परस्य सस्य धुड्वा। सनत्सः, सन्सः।

कुक् क् तथा उकार की इत्संज्ञा होकर उनका लोप हो जाता है। यहाँ केवल 'क्' शेष रहता है। यह आगम कित् है। परिणाम स्वरूप 'आद्यन्तौ टकितौ' सूत्र के नियमानुसार यह आगम ङकार का अन्तावयव होगा अर्थात् ङकार के पश्चात् होगा।

तब 'प्राङ्क् + षष्ठः' इस स्थिति में 'चयो द्वितीया शरि पौष्कर सादे रिति वाच्यम्' वार्तिक से यहाँ ककार का द्वितीय अक्षर ख् होकर क कार के स्थान में ख कार आदेश होगा। इस प्रकार 'प्राङ्ख्षष्ठः' यह रूप बना तथा पाणिनि के मत में द्वितीय अक्षर के अभाव में 'प्राङ्क् + षष्ठः' बनता है। इस स्थिति में क् + ष् = क्ष (क्, ष् संयोगेक्षः) तब 'प्राङ्क्षष्ठः' यह द्वितीय रूप सिद्ध होता है।

विशेष—'ङणोकुक् टुक् शारि' सूत्र से होने वाला कुक् टुक् आगम वैकल्पिक होने से कुक् के अभाव पक्ष में 'प्राङ्षष्ठः' यह तृतीय रूप बनता है।

सुगणठ् षष्ठः—'सुगण + षष्ठः' इस स्थिति में 'ङणो' इत्यादि सूत्र से टुक् (ट्) का आगम और 'चयो द्वितीय' इत्यादि वार्तिक के द्वारा उसका द्वितीय अक्षर 'ठ्' करने पर प्रथम रूप 'सुगण्ठ् षष्ठः' यह बनता है। द्वितीय अक्षर के अभाव न 'सुगण् ट् षष्ठ::' यह द्वितीय रूप बनेगा और जब 'टुक्' का आगम नहीं होगा तब 'सुगण् षष्ठः' यह तृतीय रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार प्राङ्खशूरः प्राङ्क् शूरः और प्राङ्शूरः। 'उदङ्ख्सर्ता' उदङ्क्सर्ता, उदङ्सर्ता। सुगण्ट्शेते, सगण्ठ् शेते, सुगण् शेते। इत्यादि रूप सिद्ध होते हैं।

ङसिइति—डकार से परे सकार को 'धुट्' का आगम हो विकल्प से।

विशेष—'धुट्' आगम में से टकार और उकार की इत्संज्ञा और लोप होकर 'ध्' शेष रहता है। अतः इस आगम के टित् होने से 'आद्यन्तौ टकितौ' के नियम से धुट् का आगम सकार के पूर्व होगा।

षट्त्सन्तः—'षड् + सन्तः' इस स्थिति में डकार से परे सकार के आदि में 'ङसि धुट्' सूत्र के द्वारा धुट्का होने पर 'षड् ध् सन्तः' इस स्थिति में 'खरि च' सूत्र से चर्त्व विधि से प्रथमाक्षर तकार और उसी सूत्र से डकार को टकार होकर 'षटत्सन्तः' रूप सिद्ध होता है।

विशेष—'धुट्' का आगम वैकिल्पक होने से उसके अभाव पक्ष में 'खरि च' से डकार को टकार होकर 'षट्सन्तः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'मधुलिट्सु' मधुलिट्त्सु, षट्सुखनि इत्यादि प्रयोग सिद्ध होते हैं।

नश्चेति—नकारन्त पद से सकार को 'धुट्' का आगम विकल्पतः होता है, यहाँ भी 'धुट' सकार से पूर्व होता है।

सूत्र ८८—शि तुक्—८।३।३१।।

सूत्रवृत्ति—पदान्तस्य नस्य शे परे तुग्वा। सञ्छम्भुः, सञ् च छम्भुः, सञ् च शम्भु, सञ् शम्भुः।

सूत्र ८९—ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम्—८।३।३२।।

सूत्रवृत्ति—परो यो ङम्, तदन्तं यत् पदं, तस्मात् परस्यचोङमुट्। प्रत्यङ्ङात्मा। सुण्णीशः। सन्नच्युतः।

सन्त्सः—'सन् + सः' इस स्थिति में नकारान्त पद है—सन् उससे परे सकार के पूर्व 'नश्च' सूत्र से धुट् (ध) का आगम और 'खरिच' सूत्र से नकार को तकार होकर 'सन्त्सः' रूप बनेगा तथा धुट्' के अभाव पक्ष में 'सन्सः' यह द्वितीय रूप भी सिद्ध होता है।

विशेष—इसी प्रकार गुणवान् त्स्वापिति, गुणवान्स्वपिति+धनवान्त्सहते, धनवान् सहते इत्यादि प्रयोग भी सिद्ध होते हैं।

शि तुक्—शकार परे रहने पर पदान्त नकार को तुक् का आगम होता है विकल्प से। यह आगम कित् होने के कारण पदान्त न कार के पश्चात् ही होगा अर्थात् तुकागम पदान्त नकार का ही अन्तावयव होगा।

विशेष—तुक् आगम में ककार तथा उकार की इत्संज्ञा और लोप होकर के केवल 'त्' शेष रहता है।

सञ्छम्भुः—'सन् + शम्भु' इस स्थिति में पदान्त में नकार है—अतः सन् का न् और उससे परे शम्भु का शकार है। अतः 'शि तुक्' सूत्र से तुक् (त्) का आगम होकर 'सन् त् शम्भुः' इस स्थिति में 'स्तोः श्चुना श्चुः' सूत्र से तकार को चकार उसके पश्चात् 'सन् च् शम्भुः' इस स्थिति में च वर्ग के योग में नकार (त वर्ग) के अनुनासिक वर्ण को 'स्तोः श्चुना श्चुः' सूत्र से ही च वर्ग का अनुनासिक वर्ण (ञ्) होकर 'सञ् च् शम्भुः' इस स्थिति में 'शश्छोऽटि' सूत्र से 'शम्भुः' शब्द के शकार को छकार होकर सञ् च छम्भु इस स्थिति में 'झरो झरि सवर्णों सूत्र से झर् वर्ण छकार परे रहते विधीयमान लोप के इस वैकल्पिक होने से चकार के लोप होने के अभाव के पक्ष में 'सञ छम्भुः' यह प्रथम रूप बनता है।

'झरोझरि सवर्णे' सूत्र से विधीयमान लोप के वैकल्पिक होने से चकार के लोप के अभाव पक्ष मं 'सञ् च छम्भु' द्वितीय रूप बनता है।

शश्छोऽटि सूत्र द्वारा विधीयमान शकार भी वैकल्पिक है, अतः छकारादेश के अभाव पक्ष में 'सञ् च शम्भु' यह तृतीय रूप सिद्ध होता है।

'शितुक' सूत्र से विधीयमान तुक का आगम भी वैकल्पिक है। अतः 'तुक्' के अभाव पक्ष में सन + शम्भुः। इस स्थिति में शकार के योग में स्तोः श्चुना श्चुः सूत्र से नकार को ञकार करके 'सञ् शम्भु' यह चतुर्थ रूप प्रयोग सिद्ध होता है।

ङमोह्रस्वादिति—ह्रस्व वर्ण से आगे अथवा परे ङम् प्रत्याहारान्तर्गत ङ् ण न् तदन्त जो पद अर्थात् ह्रस्व वर्ण से परे जो ङकारान्त, णकारान्त, और नकारान्त पद उससे परे जो स्वर वर्ण उसे 'ङमुट्' का आगम होता है नित्य ही।

विशेष १. वस्तुतः 'ङमुट्' में से 'उट्' का अनुबन्ध लोप होकर 'ङम्' प्रत्याहार में आने वाले वर्ण (ङ्, ण्, न्) शेष रहते हैं। उक्त ङमुट् आगम में से 'ङुम्' णुट् और नुट् (ये तीनों आगम) पृथक्-पृथक् शेष रह जाते है।।

२. ङमुट् आमम टित् कहे जाने से 'आद्यान्तौ टकितौ' सूत्र के नियमानुसार स्वर वर्णों के आदि में होते हैं अर्थात् ह्रस्व वर्ण से पर ङकारान्त पद के बाद ङ् का, णकारान्त पद के बाद ण् का और नकारान्त पद के बाद 'न्' का आगम होता है।

प्रत्यङ्ङात्मा—'प्रत्यङ् + आत्मा' इस स्थिति में ह्रस्व वर्ण यकार से पर ङम् प्रत्याहारान्तर्गत वर्ण ङ् है, अतः ङकारान्त पद प्रत्यङ शब्द है; उससे परे आत्मा का 'आ' स्वर है, अस्तु इस स्वर के पूर्व ङुट् (ङ्) का आगम 'ङमोह्रस्वादचिङमुण् नित्यम्' सूत्र द्वारा होकर 'प्रत्याङ्ङात्मा' हय सन्धिरूप प्रयोग सिद्ध होता है।

सुगण्णशिः—'सुगण + ईशः' इस स्थिति में ह्रस्व वर्ण 'ग' से परे णकारान्त पद 'सुगण' है और उससे परे ईशः का ईकार है। अतः प्रकृत सत्र से णुट (ण) का आगम होकर '**सुगण्णीशः**' यह सन्धि रूप सिद्ध हुआ।

सन्नच्युतः—सन् + अच्युतः = इस स्थिति में ह्रस्ववर्ण से परे नकारान्त पद 'सन्' है। अतः प्रकृत सूत्र से नुट् (न्) का आगम होकर 'सन्नच्युतः' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार कस्मिन्नपि, पठन्नागच्छति इत्यादि सन्धि रूप बनेंगे।

विशेष—'ङमोह्रस्वादयिङमुण् नित्यम्' सूत्र में 'नित्यम्' शब्द के प्रयोग से यह नहीं जान लेना चाहिए कि 'ङमुट्' का आगम सर्वत्र एवं सदैव होता है, विकल्प से कदापि नहीं, जैसा कि अन्य सूत्रों में नित्यम् शब्द का अभिप्राय व्यक्त होता है। वस्तुतः यह नियम प्रायः प्रवर्तित होता है। अतः 'ङमुट्' का आगम सार्वत्रिक न होकर प्रायिक जानाजाये अर्थात् यह नियम कहीं लागू होगा और कहीं नहीं भी होगा। जैसा कि भगवान् पाणिनि ने स्वयं अपने सूत्रों में कहीं तो 'ङमुट' के आगम का प्रयोग किया है और कहीं नहीं किया है।

सूत्र ९०—समः सुटि—८।३।५।।

सूत्रवृत्ति—समो रुः सुटि।

(अनुनासिक विधायकं—सूत्रम्)

सूत्र ९१—अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा—८।३।२।।

सूत्रवृत्ति—अय रु प्ररकरणे रोः पूर्वस्यानुनासिकोवा।

(अनुस्वार विधायकं सूत्रम)

सूत्र ९२—अनुनासिकात् परोऽनुस्वारः—८।३।४।।

सूत्रवृत्ति—अनुनासिकं विहाय रोः पूर्वस्मात् परोअनुस्वारागमः।

'सुप्तिङन्तं पदम्' यहाँ 'सुप्तिङ् अन्तम्' इस स्थिति में ङकारान्त पद को परे ङकारागम नहीं किया है। इसी प्रकार 'इको यणचि' सूत्र में यण् + अचि' में णकारागम उक्त नियम से होना था किन्तु उन्होंने णुट् (ण्) के आगम की प्रवृत्ति नहीं प्रदर्शित की। वैसे ही 'सनाद्यन्ता धातवः' सूत्र में भी 'सन् + अद्यन्ता' इसमें 'नुट् (न्) के आगम की प्रवृत्ति उन्होंने नहीं दिखाई। अस्तु, ङमुट् का आगम क्वाचित्क ही समझें। उक्त नियम का प्रयोग 'सन्नन्तात्' में पाणिनि ने किया है किन्तु 'सनिष्यते' नहीं किया है।

समः सुटि—सुट् परे रहने पर 'सम्' के मकार को 'रु' आदेश होता है। सुट् में उकार और टकार की इत्संज्ञा तथा लोप होकर स शेष रहता है। उदाहणार्थ—'सम + कर्त्ता' इस स्थिति में क के पूर्व 'सुट्' का अगम होकर 'संस्स्कर्त्ता' निष्पन्न होता है।

संस्स्कर्त्ता—सम् + स्कर्ता—इस स्थिति में 'समः सुटि' सूत्र से '**स्कर्त्ता**' सुट् आगे रहते 'सम्' उपसर्ग के मकार के स्थान पर 'रू' आदेश होकर '**सम + स्कर्त्ता**' इस स्थिति में होता है।

अत्रानुनासिक इति—इस रु प्रकरण में 'रु' से पूर्व जो वर्ण है, उसे अनुनासिक का आगम विकल्प से होता है। उक्त स्थिति में 'रु' से पूर्व वर्ण सकार के अकार को अनुनासिक होने पर 'सरु + स्कर्ता' इस स्थिति में अनुनासिकादिति—जिस पक्ष में अनुनासिक होता है उस पक्ष को छोड़कर अर्थात् जहाँ अनुनासिक नहीं उस स्थल में अर्थात् सरू + कर्त्ता में रु के पूर्व वर्ण को अनुस्वर का आगमन हो जाता है।

सरु + स्कर्त्ता इस स्थिति में अनुनासिकत् परोऽनुस्वारः सूत्र से अनुस्वार का आगम होकर संरु + स्कर्त्ता इस स्थिति में देनों ही उदाहरणों रु के उकार को इत्संज्ञा और लोप होकर संर् + स्कर्त्ता इस स्थिति में विसर्जननीयस्येति—विसर्ग का 'स' हो जाता है, यदि उसके पश्चात् खर् (वर्गों के प्रथम, द्वितीय, ष श ह) हों तो।

सूत्र ९३—खरवसानयोर्विसर्जनीयः—८।३।१५।।

सूत्रवृत्ति—खरि असवाने च पदान्तस्य रेफस्य विसर्गः।

(वा०) सम्पुंकानां सो वक्तव्यः। संस्स्कर्त्ता, संस्कर्त्ता, सँस्स्कर्त्ता सँस्कर्त्ता।

सूत्र ९४—पुमः खय्यम्परे—८।३।६।।

सूत्रवृत्ति—अम् परे खयि पुमो रुः। पूँस्कोकिलः, पुंस्कोकिलः।

सूत्र ९५—नश्छव्यप्रशान्—८।३।७।।

सूत्रवृत्ति—अमिछवि नान्तस्य पदस्य रुः, न तु 'प्रशान्' शब्दस्य।

खरवसानयोरिति—खर प्रत्याहारान्तर्गत वर्णों के परे रहते और अवसान अर्थात् उसके आगे वर्णों का अभाव हो, तो पदान्त रेफ अर्थात् र को विसर्ग हो जाता है। उक्त स्थिति में दोनों उदाहरणों (सँर् + स्कर्त्ता और संर् + स्कर्ता) में खर् वर्ण स के परे रहने पर 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' सूत्र से रेफ (र्) को विसर्ग होकर सँः स्कर्त्ता तथा संः + स्कर्त्ता यह स्थिति होने पर—

वार्तिक (वा०) सम्पुंकानामिति—सम् पुम् और कान् शब्दों से परे विसर्ग को स् होना चाहिए।

उक्त स्थिति में दोनों ही उदाहरणों में विसर्ग का सकार करने पर 'संस्स्कर्त्ता' और 'संस्कर्त्ता' प्रयोग सिद्ध होते हैं परन्तु जहाँ अनुनासिक होगा वहाँ पर विकल्प पक्ष में 'संस्कर्त्ता और सँस्कर्ता प्रयोग भी होते हैं।

विशेष १. इसी प्रकार संस्कारः, संस्कृतम्, संस्करोति और संस्स्कार, संस्स्कृतम् संस्करोति आदि रूप भी देखे जाते हैं।

२. ऐसे उदाहरणों के प्रकरण के प्रकारण में भाष्यकार का वचन है—'समो वा लोपः' सकार का लोप भी विकल्प से हो जाता है। अतः भाष्यकार के वचनानुसार सकार का लोप होने पर संस्कर्ता, संस्कारः, संस्कृतम्, संस्करोति आदि प्रयोग बनते हैं। यहाँ भी एक पक्ष में अनुनासिक और द्वितीय पक्ष में अनुस्वार होता है।

पुमइति—जिनके आगे 'अम्' अथवा जिनसे परे अम् प्रत्याहारान्तर्गत वर्ण हो ऐसे खय् प्रत्याहारान्तर्गत वर्णों के आगे या उससे परे रहने पर पुम् शब्द के मकार को रु आदेश हो जाता है।

पुँस्कोकिलः/पुंस्कोकिलः—'पुम् + कोकिलः' इस स्थिति में 'अम्' प्रत्याहार का वर्ण बाद में अर्थात् अम् परक (जिसके बाद में अम् अर्थात् स्वर, अन्तः स्थ, ह एवं वर्गों के पंचमाक्षर हों।) तथा खय् (वर्गों के पहले दूसरे वर्ण) हों तो पुम् के म् को रु (र्) तथा 'खरवसान योः इत्यादि से र् को विसर्ग तथा 'सुंपुंकानां०' सूत्र से विसर्ग को स्। सकार से पहले एक स्थान पर अनुनासिक और दूसरे स्थान पर अनुस्वार होकर

सूत्र ९६—विसर्जनीयस्य सः—८।३।३४।:

सूत्रवृत्ति—खरि। चक्रिस्त्रायस्व, चक्रिंस्त्रायस्व। अप्रशान् किम् प्रशान् तनोति। पदान्तस्य किम्,हन्ति।

सूत्र ९७—नन्चे—८।३।१०।।

सूत्रवृत्ति—नृन् इत्यस्य रुर्वा पे।

सूत्र ९८—कुप्वोः कपौ च—८।३।३७।।

सूत्रवृत्ति—क वर्गे प वर्गे च विसर्गस्ये कपौस्तः, चाद विसर्गः। नॄ ≍ पाहि, नॄं ≍ पाहि, नॄँ ≍ पाहि, नॄँः पाहि नृंः पाहि, नृन् पाहि।

क्रमशः पुँस्कोकिलः एवं पुस्कोकिलः दो रूप सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार पुँश्चरित्रम् पुंश्चरित्रम् पुँष्टिट्टिभः, पुंष्टिट्टिभः इत्यादि प्रयोग बनते हैं। 'पुंष्टिट्टिथः इत्यादि प्रयोग बनते हैं।

विशेष—यहाँ प्रथम दो उदाहरणों में तो चवर्ग के प्रयोग में स् को श तथा अन्य दो उदाहरणों में ट वर्ग के योग में स् को ष् भी हो जाता है।

नश्छव्यप्रशान्—प्रशान् शब्द को छोड़कर अम् प्रत्याहारान्तर्ग वर्ण जिनके आगे हो, ऐसे 'छव्' प्रत्याहारान्तर्गत वर्णों के परे रहने पर नकारान्त पर के स्थान में 'रु' आदेश हो जाता है।

विशेष—यहाँ 'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषानुसार नकारान्त पद के अन्तिम वर्ण नकार के स्थान पर सकार हो जाता है।

व्रिसर्जनीयस्येति—विसर्गों के स्थान में सकार आदेश हो खर् परे होने पर।

चक्रिंस्त्रायस्व—'चक्रिन् + त्रायस्व' इस स्थिति में यहाँ अम् प्रत्याहारान्तर्गत वर्ण है तथा त्रायस्व में त्र में र् और अम् परक छव प्रत्याहारान्तर्गत वर्ण है 'त्र' में त्। अतः इस त् के परे रहने पर नकारान्त पद का अन्तिम वर्ण है 'चक्रिन्' का न्। अतः 'नश्छव्यप्रशान्' सूत्र से यहाँ नकार का रु आदेश और 'अत्रानुनासिक' इत्यादि से 'रु' के पूर्व अनुनासिक तथा अनुनासिक के न् होने पर 'अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः' सूत्र से रु के उकार की इत्संज्ञा और 'खरवसानयोवं' इत्यादि सूत्र से र को विसर्ग होकर 'चक्रिस्त्रायस्वं', 'चक्रिः त्रायस्व' इस स्थिति में यहाँ दोनों ही उदाहरणों में '**विसर्जनीयस्य सः**' सूत्र से विसर्गों के स्थान में सकार होकर चक्रिस्त्रायस्व, 'चक्रिंस्त्रायस्व' दो रूप सिद्ध होते हैं।

अप्रशान् किम्—'नश्छव्यप्रशान्' सूत्र में प्रशान् शब्द को छोड़ कर नकारान्त पद के नकार को 'रु' करता है। अतः 'प्रशान् + तनोति' इस स्थिति में यहाँ प्रशान् शब्द के ही वर्तमान होने पर 'न्' को रु न होकर रु के अभाव में अनुनासिक, अनुस्वार और विसर्गादि भी नहीं होंगे। अतः 'प्रशान्तनोति' ऐसा ही यथावत् रूप रहेगा।

पदान्तस्येति—'नश्छव्यप्रशान्' सूत्र पदान्त नकार को ही रु करता है अतः 'हन् + ति' इस उदाहरण में हन् पदान्त न होने से यहाँ न् को रु नहीं होगा अतः 'हन्ति' पद ही रहेगा क्योंकि 'हन्ति' तिङन्त होने से पद है और हन् केवल धातु होने से पदान्त नहीं है।

अथ हलसन्धि (व्यंजन-सन्धि) प्रकरणम्

सूत्र ९९—तस्य परमाम्रेडितम्—८।१।२।।

सूत्रवृत्ति—द्विरुक्तस्य परमाम्रेडितम् स्यात्।

सूत्र १००—कानाम्रेडिते—८।३।१२।।

सूत्रवृत्ति—कान्नकारस्य रुः स्यादाम्रेडिते परे, काँस्कान् कांस्कान्।

सूत्र १०१—छे च—६।१।७३।।

सूत्रवृत्ति—ह्रस्वस्य छे तुक्। शिवच्छाया।

सूत्र १०२—पदान्दात वा—६।१।७६।।

सूत्रवृत्ति—दीर्घात्पदान्ताच् छेतुग्वा। लक्ष्मीच्छाया लक्ष्मी छाया।

(इति) हलसन्धिप्रकरणम्

नृन्पे—'नृन्' इस पद **कुप्वोरिति** को अर्थात् पदान्त के नकार को विकल्से 'रु' हो जाता है। जब उससे परे पकार हो। क वर्ग परे रहते विसर्गों को जिह्वा मूलीय और प वर्ग परे रहने पर विसर्गों को उपध्मानीय हो जाते हैं। सूत्र में चकार ग्रहण करने से पक्ष में विसर्ग भी होते हैं। नृँः पहि/नृंः पहि/नृँ ⨯ पहि/नृं ⨯ पाहि।

नृन्पाहि—'नृन् + पाहि' इस स्थिति में 'नृन्ये' सूत्र से पकार परे रहते 'नृन्' पद के नकार को 'रु' आदेश करने पर 'रु' के पूर्व अनुनासिक और पक्ष में अनुस्वार तथा उकार की इत्संज्ञा एवं लोप होकर र् को 'खरवसानायोषिसर्जनीयः से विसर्ग करने पर 'नृँः + पाहि' और नृंः पहि इस स्थिति में 'कुप्वोः ⨯ क ⨯ पौच' सूत्र से पकार परे रहते दोनों ही उदाहरणों में उपध्मानीय करने पर नृँ ⨯ पाहि, नृं पाहि ये दो रूप बनते हैं। सूत्र मं चकार ग्रहण करने से जब एक पक्ष में विसर्ग होते हैं तब नृँः पाहि, नृंः पाहि ये दो रूप सिद्ध होते हैं और जब 'नृन्ये' सूत्र से उसकी वैकल्पिक, प्रवृत्ति होने के करण नकार को 'रु' ही नहीं होता, जब 'नृन् पाहि' केवल एक ही रूप निष्पन्न होता है। इस प्रकार ये पाँच रूप कुल मिलाकर निष्पन्न होते हैं।

तस्येति—जिस शब्द को दो बार कहा गया हो अर्थात् उसके बाद वाले दूसरे समान रूप की आम्रेडित संज्ञा होती है।

कानिति—आम्रेडित संज्ञक शब्द आगे (पर में) रहने पर कान् शब्द के नकार को रु आदेश हो जाता है।

काँस्कान्—'कान् + कान्' इस स्थिति में दूसरे कान् शब्द की तस्य परमाम्रेडितम्' से आम्रेडित संज्ञा हो गई। तब आम्रेडित संज्ञक शब्द कान् के पर में पड़े रहने पर 'कानाम्रेडितम्' सूत्र से प्रथम कान् शब्द के नकार को 'रु' आदेश होकर 'रु' के पूर्व अनुनासिक और पक्ष में अनुस्वार होकर तथा र् को विसर्ग होने पर 'काँः + कान्' और 'कां + कान्' इस स्थिति में 'संपुंकानां सो वक्तव्यः' वार्तिक से दोनों उदाहरणों में विसर्गों का स् होकर 'काँस्कान्' एवं कांस्कान् दो रूप बनते हैं।

छेचेति—ह्रस्व वर्ण को तुक् (त्) का आगम हो, जबकि उसके पर में छ्कार वर्ण हो।

विशेष—तुक् आगम में से उ कार और क कार की इत्संज्ञा व लोप होकर 'त्' शेष रहता है।

शिवच्छाया—'शिव + छाया' इस स्थिति में ह्रस्व वर्ण वकार में 'अ' है और उससे आगे (पर में) छाया का छ कार है। अतः 'छे च' सूत्र से तुक् (त्) का आगम होकर 'शिवत् छाया' इस स्थिति में जश्त्व विधि से त कार का द् कार एवं 'स्तोः श्चुना श्चुः' से च वर्ग के योग में द कार को ज कार और चर्त्व विधि से चकार होने पर 'शिवच्छाया' यह सन्धि रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार वृक्षच्छाया, संस्कृतच्छाया स्वच्छया आदि प्रोग बनते हैं।

पदान्तादिति—पदान्त दीर्घ वर्ण से परे छकार को विकल्प से तुक् आगम होता है।

लक्ष्मीच्छाया—'लक्ष्मी + छाया' इस स्थिति में पदान्त दीर्घ वर्ण ई है। लक्ष्मी का ई पदान्त से परे छाया का छ कार आया है अतः 'पदान्ताद्वा' स्थिति में पदान्त में दीर्घ वर्ण ई है। लक्ष्मी का ई पदान्त से परे छाया का छ कार आया है। अतः 'पदान्ताद् वा' सूत्र से तुक् (त्) का आगम जशत्व विधि से तकारको दकार और 'स्तोःश्चुना श्चुः' से उसे श्चुत्व विधि से जकार एवं खरिच' से चर्त्व होकर 'लक्ष्मीच्छाया' बनता है। 'पदान्ता दवा' से यह तुगागम वैकिल्पक होने से तुक् के अभाव पक्ष में लक्ष्मी छाया द्वितीय रूप भी बनता है।

।।इति हल्सन्धि प्रकरणम्।।

परीक्षोपयोगी प्रश्न

- **बहुविकल्पीय**

१. श्चुत्व हल् सन्धि का सूत्र है।

(क) शात्, (ख) झलां जशोऽन्ते,

(ग) ष्टुना ष्टुः, (घ) स्तोः श्चुना श्चुः।

२. 'स्तोःश्चुना श्चुः' सूत्र का उदाहरण नहीं है।

(क) श्रीमच्चन्द्रः, (ख) हरिश्चन्द्रः,

(ग) हरिश्शेते, (घ) जगदीशः।

३. याच्ञा सन्धि का सही विच्छेद है।

(क) याच + जा, (ख) याज् + चा,

(ग) याच् + छा, (घ) याच् + ना।

४. 'ष्टुनाष्टुः' सूत्र का उदाहरण नहीं है।

(क) रामस् + टीकते, (ख) तत् + टीका,

(ग) षष् + क्षः, (घ) गरीयान् + च।

५. 'तोर्लि' सूत्र का उदाहरण है।

(क) पुष्टवान्, (ख) तल्लीनः,

(ग) श्रीमज्जयति, (घ) श्रीमच्छंकरः।

६. 'श्रीमदाचार्यः' सन्धि का सूत्र और विग्रह है।

(क) खरि च, (ख) स्तोः श्चुना श्चुः,

(ग) झलां जशोऽन्ते, (घ) ष्टुना ष्टुः।

७. 'मोऽनुस्वारः' सूत्रानुसार निम्न सन्धि पद सही है।
(क) सम्बन्धः, (ख) पुमाँश्चरति,
(ग) हरिंवन्दे, (घ) श्रीमांल्लिखित।

८. 'ङमोह्रस्वादचिङमुण् नित्यम्' सूत्र का सही विग्रह और सन्धि पद का उदाहरण है।
(क) सन्नच्युतः = सन् + अच्युतः, (ख) तच्छिवः = तत् + शिवः,
(ग) पुंस्कोकिलः = पुम् + कोकिलः, (घ) पुमाँश्चरति = पुमान् + चरति।

उत्तरमाला

१. (घ) २. (घ) ३. (घ) ४. (घ) ५. (ख) ६. (ग) ७. (ग) ८. (क)।

● **लघु उत्तरीय**

प्रश्न १. निम्नलिखित सूत्रों की व्याख्या सोदाहरण कीजिए।

(१) नश्छव्यप्रशान्, (२) खरि च, (३) अनुस्वारस्य ययि पर सवर्णः, (४) शश्छोऽटि, (५) सम्पुंकानां सो वक्तंयः (वार्तिक), (६) झयो होऽन्यतरस्याम्, (७) नश्चपदान्तस्यझलि, (८) वापदान्तस्य।

प्रश्न २. निम्न सन्धि पदों के विग्रह पूर्वक सूत्रोंल्लेखित कीजिए।

(१) यशांसि, (२) त्वङ्करोषि/त्वंकरोषि, (३) तच्शिव/तच्छिवः, (४) किंह्लादयति, (५) षट्त्सन्तः/षट्सन्तः, (६) प्रत्यङ्ङान्ता, (७) पुंस्कोकिलः/पुंस्कोकिलः, (८) चक्रिस्त्रायस्व/चक्रिंस्त्रादस्व, (९) शिवच्छाया, (१०) वांगीशः।

प्रश्न ३. निम्नलिखित सन्धि-विग्रहों की सन्धि कीजिए और सूत्रोल्लेख भी कीजिए।

(१) सत् + चित्, (२) हृष + तः, (३) दिक् + ईशः, (४) वाक् + हरिः, (५) ककुभ् + हस्ती, (६) सन् + शम्भुः, (७) सम् + राट्, (८) शां + तः, (९) यावत् + शक्यम्, (१०) उद् + स्थानम्।

● **दीर्घ उत्तरीय**

प्रश्न १. निम्नलिखित सूत्रों में से किन्हीं चार की सोदाहरण व्याख्या कीजिए।

(१) छेच।, (२) ष्टुना ष्टुः।, (३) पदान्ताद् वा, (४) झयो होन्यतरस्याम्, (५) खरि च।, (६) पुमः खय्यम्परे। (७) शात्।, (८) नश्छव्यप्रशान्।

प्रश्न २. किन्हीं तीन शब्दों की सिद्धि सूत्र निर्देशपूर्वक कीजिए।

(१) प्रष्टारः।, (२) षण्मासाः। (३) दिगन्तः, (४) संस्कर्ता, (५) सम्राट्, (६) ककुण्भस्ती।, (७) शार्ङ्गिञ्जयः।

प्रश्न ३. निम्नसन्धि विच्छेदों को जोड़कर नियम निर्देश सहित सिद्ध कीजिए।

(१) एतान् + तारय।, (२) षट् + नगर्यः, (३) सुगण् + षष्ठः, (४) चित् + मयम्, (५) विद्वान् + लिखति, (६) कस् + चित्, (७) विद्वत् + मङ्लम्, (८) विद्वान् + लिखति, (९) वाक् + हरिः, (१०) कान् + कान्, (११) अप् + मयम्।

विशेष—लघु उत्तरीय तथा दीर्घ उत्तरीय प्रश्नों के उत्तर पुस्तक के मूल भाग में देखें।

✤

अथ विसर्गसन्धिप्रकरणम्
(सत्वविधायकं सूत्रम्)

सूत्र १०३—विसर्जनीयस्य सः—८।३।३४।।

सूत्रवृत्ति—खरि। विष्णुस्त्राता।

सूत्र १०४—वा शरि—८।३।३६।।

सूत्रवृत्ति—शारि विसर्गस्यविसर्गौवा। हरि:शेते। हरिश्शेते।

सूत्र १०५—ससजुषो रुः—८।३।६६।।

सूत्रवृत्ति—पदान्तस्य सस्य सजुषश्च रुः स्यात्।

सूत्र १०६—अतोरोरप्लुतादप्लुते—६।१।११३।।

सूत्रवृत्ति—अप्लुतादतः परस्य रोरुः स्यादप्लुतेऽति। शिवोऽर्च्यः।

विसर्जनीयस्येति—खर् प्रत्याहारान्तर्गत वर्ण के आगे (पर में) होने पर विसर्ग के स्थान में सकार आदेश हो जाता है।

विष्णुस्त्राता—'विण्णुः + त्राता' इस स्थिति में यहाँ विसर्ग से परे खर् प्रत्याहार का तकार परे रहते हैं। अतः 'विसर्जनीयस्यसः' सूत्र से विसर्गों के स्थान पर सकार होने पर 'विष्णुस्त्राता' यह सन्धि रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार बालकस्तत्र, रामस्तथा, गजश्चरति, गोश्चिरय्, देवास्तत्र, हरिस्त्राता इत्यादि प्रयोग बनते हैं।

वाशरि—शर प्रत्याहारान्तर्गत वर्णों के पर में रहने पर विसर्गों को विकल्प से सकार होता है अन्यथा विसर्ग का विसर्ग भी पक्ष में बना रहता है।

हरि:शेते—'हरिः + शेते' इस स्थिति में खर् वर्ण शकार् पर में रहने पर 'विसर्जनीयस्य सः' सूत्र से विसर्ग के स्थान में सकार प्राप्त हुआ किन्तु 'वाशरि' सूत्र द्वारा उसका निषेध करके विसर्ग के स्थान पर विसर्ग विधि विकल्प से करने पर '**हरि:शेते**' रूप बनता है। यद्यपि विसर्ग विधान के विकल्पतः होता है। अतः इसके अभाव पक्ष में 'विसर्जनीयस्यसः' सूत्र से विसर्ग को सकार तथा 'स्तोः श्चुना श्चुः' से शकार के योग में श्चुत्व सन्धि विधि का प्रयोग कर के 'हरिश्शेते' यह द्वितीय सन्धि रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार बालकाः सन्ति, बालकस्सन्ति। गजाः षट् गजाष्षट् ऋषयःसन्तः, ऋषयस्सन्तः गुरुः शृणोति–गुरुश्शृणोति इत्यादि प्रयोग बनते हैं।

सूत्र १०७—हशि च—६।१।११४।।

सूत्रवृत्ति—तथा शिवोवन्द्यः।

सूत्र १०८—भो भागो अधो अपूर्वस्ययोऽशि—६।३।१७।।

सूत्रवृत्ति—सतत्पूर्वस्य रोर्यादेशोऽशि। देवा इह देवायिह। भोस्, भगोस्, अघोस् इति सान्ता निपातः। तेषांरोर्यत्वे कृते।

ससजुषोरुरिति—पद के अन्त में जो सकार तथा सजुष् शब्द का जो षकार इनके स्थान में 'रु' आदेश हो जाता है।

अतोरोरप्लुतादिति—अप्लुत अकार के पूर्व में रहने पर तथा अप्लुत अकार पर में (बाद में) रहने पर रु के साथ में उकार आदेश हो जाता है।

शिवोऽर्च्यः—'शिवस् + अर्च्यः' इस स्थिति में 'ससजुषोरुः' सूत्र से सकार के स्थान में रु आदेश होने पर 'शिवरु + अर्च्यः' इस स्थिति में यहाँ अप्लुत अकार है और 'अर्च्यः' का अकार उसके परे रहते है। अप्लुत अकार अर्थात् वकारोत्तर वर्ती अ आकार से परे रु के स्थान पर 'अतोरोप्लुतादप्लुते' सूत्र से उकार आदेश होने पर शिव + अर्च्य : इस स्थिति में 'अ + उ' को गुण ओ होकर शिवो + अर्च्यः बनने पर 'एङ' पदान्तति' से पूर्वरूप होकर शिवोऽर्च्यः सन्धि रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार रामोऽत्र, कोऽपि, सोऽपि, देवोऽपि, देवोऽस्ति, गजोऽयम्, सोऽकथयत् रामोऽवदत् इत्यादि रूप बनते हैं।

विशेष—यहाँ सर्वत्र रामस् + अत्र आदि उदाहरण में सकार को रु रहने उसे उ तथा गुण होकर 'ओ' एवं पूर्वरूप होकर रूप बनते हैं।

हशिचेति—हश् प्रत्यहारान्तर्गत वर्णों के परे या बाद में रहने पर अप्लुत अकार से परे 'रु' के स्थान पर उ आदेश हो जाता है।

शिवोवन्द्यः—'शिवस् + वन्द्यः' इस स्थिति में 'ससजुषोरुः' सूत्र से सकार को 'रु' आदेश होने पर 'शिवरु + वन्द्यः' इस स्थिति में 'रु' से परे हश् प्रत्याहार का वकार है तथा रु से पूर्व अप्लुत अकार है। अतः 'हशि च' सूत्र से रु को उकार आदेश हो गया। तब शिवउ + बन्द्यः' इस स्थिति में आद्गुणः' से 'अ + उ' = गुण होकर 'शिवोवन्द्यः' यह अभीष्ट सन्धि रूप सिद्ध हुआ। इसी प्रकार 'छात्रस् + गतः' = छात्रो गतः। बालकस् + हसति = बालको हसति। गजस् + गच्छति = गजो गच्छति, नृपो ददाति, रामो वदति, सिंहो गर्जति, मेघा वर्षति', नृपो वदति आदि प्रयोग देखे जाते हैं।

भो इति—भोस्, भगोस्, अघोस् और अवर्ण पूर्वक 'रु' को यकार आदेश हो जबकि उसके पर में अश् प्रत्याहारान्तर्गत वर्ण हो।

देवाइह—'देवास् + इह' इस स्थिति में 'ससजुषोरुः' सूत्र से सकार के स्थान में 'रु' आदेश करने पर देवारु + इह इस स्थिति में यहाँ 'अश्' वर्णों में से इकार परे हाने पर अवर्ण पूर्वक 'रु' के स्थान में 'भो भगो अघो अपूर्वस्य योऽशि' सूत्र से यकार आदेश होगा। तब 'देवाय् + इह' इस स्थिति में 'लोपःशाकल्यस्य' सूत्र से यकार का लोप होने पर 'देवा इह' ये प्रयोग बनता है। लोपक का यहाँ विधान शाकल्याचार्य के

सूत्र १०९—हलि सर्वेषाम्—८।३।२२।।

सूत्रवृत्ति—भो भगो अघो अपूर्वस्य यस्य लोपः स्याद् हलि। भो देवाः, भगो नमस्ते, अघो याहि।

सूत्र ११०—रोऽसुपि—८।२।३९।।

सूत्रवृत्ति—अहोरेफा देशो न तु सुपि। अहरहः। अहर्गणः।

मत में जबकि पणिनि के मत में लोप नहीं होता है। अतः लोप के अभाव पक्ष में अर्थात् वैकल्पिक विधान होने से 'देवायिह' यह द्वितीय रूप भी बनता है।

विशेष १. प्रथम उदाहरण में लोप करने के बाद 'देवाइह' इस स्थिति में यहाँ 'आद्गुणः' सूत्र से 'आ + इ' के स्थान में गुण सन्धि की आशङ्का नहीं करनी चाहिये क्योंकि आद् गुणः सूत्र सपाद सप्ताध्ययी का सूत्र है। अतः इसकी दृष्टि से '**पूर्वत्रा सिद्धम्**' सूत्र के नियमानुसार त्रिपादी के सूत्र 'लोपःशाकल्यस्य' सूत्र के द्वारा किया गया यकार लोप असिद्ध है। अतः गुण की प्राप्ति ही नहीं होगी।

२. इसी प्रकार 'अण्' वर्गों के पर में रहने पर सर्वत्र अकार का विकल्पतः लोप होकर दो दो प्रयोग (रूप) बनेंगे। यथा—बालकस् + इच्छति = बालक इच्छति, बालक यिच्छति, रामस् + एति = राम एति, रामयेति, श्यामस् + आगतःश्याम आगतः, श्यामयागत इत्यादि।

३. भोः भगे, अघो इत्यादि सूत्र में भो, भगो अघो इत्यादि सकारान्त निपात है। अतः इनके सकार को रुत्व करने पर उसे (रु) को उक्त सूत्र से यकारदेश होता है। आचार्यशाकल्य के मत में यकार का लोप तथा पाणिनि के मत में लोप नहीं होता है।

४. भो, अघो, भगो ये तीनों ही शब्द सम्बोधन में प्रयुक्त होते हैं। भोस् शब्द का तो सामान्य सम्बोधन में प्रयोग होता है, किन्तु 'भोगस्' का भगवान् के लिए सम्बोधन में प्रयोग किया जाता है, परन्तु जब किसी पापी के लिए सम्बोधन करना होता है, तब अघोस् का प्रयोग होता है।

हसीति—हल वर्णों के परे रहते भो भगो अघो और अवर्ण पूर्व यकार का लोप हो जाता है।

भो देवाः—'भोस् + देवाः' इस स्थिति में 'ससजुषो रुः' सूत्र से सकार को 'रु' आदेश होकर भो भगो अघो अपूर्वस्य योऽशि' सूत्र से अश् वर्ण दकार के परे रहते। 'भो से परे रु को यकार आदेश होकर 'भोय् + देवा' इस स्थिति में 'हलिसर्वेषाम्' सूत्र

सूत्र १११—रोरि—८।३।१४।।

सूत्रवृत्ति—रेफस्य रेफे लोप:

से हल् वर्ण दकार परे रहने के कारण यकार का लोप होकर 'भो देवा:' रूप सिद्ध हुआ।

विशेष—'लोप:शकल्यस्य' सूत्र से अश् प्रत्याहार परे रहते केवल शाकल्य आचार्य के ही मत से विकल्प से यकार का लोप होता है, किन्तु हल् (व्यंजन) परे रहने पर तो सभी आचार्यों के मत् से यकार का लोप होता है। अत: सूत्र में सर्वेषाम् पद का प्रयोग किया गया है।

भगो नमस्ते—'भगोस् + नमस्ते' इस स्थिति में 'ससजुषोरु:' सूत्र से सकार को 'रु' आदेश तथा 'भो भगो०' इत्यादि सूत्र से रु को य् आदेश तथा 'हलिर्सर्वेषाम्' सूत्र से यकार का लोप होकर 'भगो नमस्ते' यह अभीष्ट सन्धि रुप सिद्ध होता है।

अघेयाहि—'अघोस् + यदि' इस स्थिति में 'ससजुषोरु:' सूत्र से सकार को 'रु' आदेश तथा रु को 'भो भगो०' इत्यादि सूत्र से य् आदेश एवं 'हलिसर्वेषाम्' सूत्र से यकार का लोप होकर 'भगो याहि' यह अभीष्ट सन्धि रूप सिद्ध हुआ।

विशेष—भो देवा: का अर्थ 'हे देवो।' भगो नमस्ते (भगवन् नमस्ते), अघोयाहि = हे पापी जाओ! उक्त सन्धि के अन्य उदाहरण देवांस् + ददाति = देवा ददति, गजा यान्ति, बालका हसन्ति आदि।।

रोऽसुपि—अहन् शब्द के स्थान पर रेफ (र्) आदेश है। यदि उससे परे 'सुप्' प्रत्यय हो तो।

विशेष—अहन् के केवल नकार को रेफ होता है न कि सम्पूर्ण अहन् के स्थान पर क्योंकि इसमें 'अलोऽन्त्स्य' के अनुसार परिभाषा का नियम लागू होता है।

अहरह:—'अहन् + अह:' इस स्थिति में 'रोऽसुपि' सूत्र से अहन् शब्द के नकार को रेफ (र्) आदेश हो कर 'अहर् + अह:' = 'अहरह:' सन्धि रूप सिद्ध होता है।

अहर्गण:—'अहन् + गण:' इस स्थिति में 'रोऽसुपि' सूत्र से 'अहन्' शब्द के नकार को रेफ (र्) आदेश होकर 'अहर्गण:' रूप बनता है।

विशेष—यहाँ नकार को रेफ करने के बाद् र् को 'उ' नहीं होगा। जैसा कि शिवोऽर्च्य: और 'शिवो वन्द्य:' में हुआ है क्योंकि यहाँ उस नकार का शुद्ध रेफ है न कि 'रु'। 'रु' को उ होता है और रु को ही यकार होता है और उसे ही लोप होता है; रेफ़ को नहीं। इसी प्रकार अहर्भाति आदि उदाहरण है जहाँ रेफ होता है वह परवर्ण में मिलता है। जैसे प्रातरुत्थाय, पुनरपि इत्यादि।

रोरि—रेफ से परे यदि रेफ हो तो प्रथम रेफ का लोप हो जाता है।

सूत्र ११२—ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः —६।३।१११।।

सूत्रवृत्ति—ढरेफयोर्लोपनिमित्रयोः पूर्वस्याणमेदीर्घः पुना रमते। हरी रम्यः। शम्भू राजते। अणः किम्। तृढः। वृढः।

मनस् + रथः इत्यम रुत्वे कृते, हशिच' इत्युत्वे, रोरि इति लोपे च प्राप्ते।

ढ्रलोपे इति—लोप के निमित्त भूत ढ और रेफ से परे रहते ढ और र् से पूर्व 'अण्' अर्थात् 'अ, ई, उ, को दीर्घ हो जाता है।

पुना रमते—'पुनर् + रमते' इस स्थिति में 'रोरि' सूत्र से रेफ से परे रमते का रकार होने के कारण पूर्व रेफ का लोप हो जायेगा तथा लोप के निमित्त भूत रमते के पूर्व जिस रेफ (र्) का लोप हुआ है उससे पूर्व नकारोत्तरवर्ती अकार (अण्) को ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' सूत्र से दीर्घ होकर 'पुना रमते' यह अभीष्ट सन्धि रूप सिद्ध होता है।

हरीरम्यः—'हरिर् + रम्यः' इस स्थिति में रेफ (र्) से परे रम्यः के रकार होने पर 'रो रि' सूत्र से प्रथम रकार का लोप होने पर लोप के निमित्त भूत रम्य के र के पर में रहते 'ढ्रलोपे०' इत्यादि सूत्र से हरि शब्द के र के उत्तरवर्ती इकार (अण्) को अर्थात् र लोप से पूर्व अण् (इकार) को दीर्घ होकर हरी रम्यः' यह अभीष्ट सन्धि रूप बनता है।

शम्भूराजते—'शम्भू + राजते' इस स्थिति में राजते के र् के आगे रहते 'रोरि' सूत्र से पूर्व र् का लोप होकर, लोप के निमित्तभूत र के आगे रहते 'ढ्रलापे पूर्वस्या दीर्घोऽणः' सूत्र से भकारोत्तरवर्ती अण् ('उ') का दीर्घ होकर 'शम्भू राजते' सन्धि रूप सिद्ध हुआ।

इसी प्रकार 'लिढ् + ढः' इस स्थिति में 'ढो ढे लोपः' सूत्र से ढकार परे रहते प्रथम ढकार का लोप होने पर लोप निमित्त ढकार के परे रहते 'ढ्रलोपे० इत्यादि सूत्र से पूर्व अण् अर्थात्—इकार को दीर्घ होकर 'लीढ़' सन्धि रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'लीढे' आदि रूप बनते हैं।

अणः किमिति—तृढः और वृढ़ः उदाहरणों में ऋकार अण् (अ, इ, उ) के अन्तर्गत न होने से यहाँ उसे (ऋकार) को दीर्घ नहीं होगा क्योंकि लोप निमित्तक रकार और ढकार से पूर्व केवल अण् को ही दीर्घ होता हो, अन्य किसी स्वर को ऋकारादि नहीं होता। अतः तृढ् + ढः = तृढः और वृढ् + ढः = वृढः। यहाँ 'ढोढे लोपः' सूत्र से पूर्व ढकार को लोप तो हो जाता है किन्तु दीर्घ नहीं होगा।

विशेष १. 'अणुदित् सवर्णस्यचाप्रत्ययः' इस सूत्र में बता आये हैं कि केवल इसी सूत्र से अण् प्रत्याहार परवर्ती णकार अर्थात लण् सूत्र के णकार तक लिया जायेगा। अन्यत्र सर्वत्र अण् प्रत्याहार में अ, इ, उ ये तीनों स्वर वर्ण ग्रहण होते हैं।

२. रलोप सन्धि के इसी प्रकार अन्य उदाहरण निम्नवत् हैं—हरिर् + रमणीयः = हरी रमणीयः, अन्तर् + राष्ट्रियः = अन्ताराष्ट्रियः। मनस् + रथ इत्येति—'मनस् +

सूत्र ११३—विप्रतिषेधे परं कार्यम्—१।४।२।।

सूत्रवृत्ति—तुल्यबल विरोधे परं कार्यं स्यात्। इति रलोपे प्राप्ते, पूर्वभासिद्धम् इति 'रोरि' इत्यस्यासिद्धत्वादुत्त्वमेव। मनोरथः।

सूत्र ११४—एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ् समासे हलि—६।१।१३२।।

सूत्रवृत्ति—अककारयोरेतत्तदोर्यः सुस्तस्य लोपो हलि नतु नञ् समासे। एष विष्णुः। स शम्भुः। अकोः किम्। एषको रुद्रः। अनञ् समासे किम्—असः शिवः। हलिकिम्—एषोऽत्र।

रथः' इस स्थिति में 'ससजुषो रुः' सूत्र से सकार को 'रु' आदेश करने पर यह दृश् प्रत्याहार र वर्ण के आगे रहते (परे रहने पर) अप्लुप अकार से परे रु के स्थान में

'हशि च' सूत्र से उकार प्राप्त होता है और 'रु' के उकार की इत्संज्ञा वलोप कर र् से परे 'रथः का र होने पर 'रोरि' सूत्र से पूर्व रेफ को लोप प्राप्त होता है। अतः ऐसी स्थिति में किस सूत्र का कार्य होना चाहिए। इस प्रश्न का निर्णयिक सूत्र है।

विप्रतिषेध इति—जहाँ तुल्य बल वाले सूत्रों का विरोध हो, वहाँ परवर्ती सूत्र का कार्य होना चाहिए। अस्तु अष्टाध्यायी पाठ के अनुसार जो सूत्र पर में हो, उसका ही कार्य हो, उससे पूर्व सूत्र का न हो। इस विप्रतिषेध नियमानुसार हशि च और रोरि दोनों ही सूत्र तुल्य तुल्य बलविरोधी है। अतः 'मन रु + रथः' इस स्थिति में पर सूत्र का कार्य शास्त्र सम्मत है। तब रोरि ८।३।२४।। है तथा 'हशिच्' ६।१।११ ।। दोनों में रोरि परश्मस्मीय सूत्र होने से यहाँ 'रु' के उकार का लोप होकर 'मनर् + रथः' इस स्थिति में 'रोरि' से र् का लोप प्राप्त होता है। पूर्व त्रासिद्धम् सूत्र से सपादसप्ताध्यायी सूत्र 'हशिच' की दृष्टि में त्रिपादी रोरि' सूत्र असिद्ध होने से 'हशिच' सूत्र से ही रु को उ होकर 'मन उ रथः' बना तथा 'आद्गुणः' से अ + उ = ओ गुण होकर मनोरथः यह अभीष्ट प्रयोग बना।

विशेष—तुल्य बल विरोधी सूत्र वे हैं जो भिन्न-भिन्न सूत्र अपने-अपने स्थलों में पुना रमते (रोरि से) एवं शिवो बन्द्य (हशिच) आदि में चरितार्थ होते हैं किन्तु वि प्रतिषेधे सूत्र ऐसे है तुल्यबतुल्यबल विरोध के अवसर पर परवर्ती सूत्र का विधान करता है।

एतत्तदोरिति—ककार रहित एतद् और दत् शब्द से परे (बाद में) आने वाले 'सु' प्रत्यय का लोप हो जाता है। जब उससे परे हल् वर्ण होते हैं, किन्तु नञ् समास में सु का लोप नहीं होता।

एष विष्णु—'एतद्' सर्वनाम शब्द के प्रथमा विभिक्ति (पुं०) ए० व० में सु प्रत्यय होने पर तकार को सकार और दकार को अकार तथा षत्व होकर 'एष सु + विष्णुः' इस स्थिति में हल् वर्ण विष्णुः के वकार के परे रहने पर 'एतत्तदोः' इत्यादि सूत्र से एतद् एष के परे जो सु है उसका लोप होकर 'एषविष्णुः' यह अभीष्ट रूप बनता है।

सूत्र ११५—सोऽचिलोपे चेत्पादपूरणम्—६।१।१३४।।

सूत्रवृत्ति—स इत्यस्य सोर्लोपःस्यादचि पादश्चेल्लोपे सत्येव पूर्य्येत। सेमाम् विड्ढि प्रभृतिम् सैष दाशरथी रामः।

(इति विसर्गसन्धिप्रकरणम्)

स शम्भु—'ससु+ शम्भु' इस स्थिति में 'एतत्तदो' इत्यादि सूत्र से हल् वर्ण परे रहते 'सु' का लोप होकर 'स शम्भुः' यह अभीष्ट प्रयोग सिद्ध होता है।

अकोः किमिति—एतत्त दोः इत्यादि सूत्र से ककार रहित 'एतद्' और 'तद्' शब्द से 'सु' का लोप होता है जबकि ककार सहित एतद् तथा तद् शब्द से सु का लोप नहीं होता। जैसे—'एषक + सु + रुद्रः' इस स्थिति में सु के उकार की इत्संज्ञा व लोप होकर तथा 'ससजुषो रुः' से सकार को 'रु' एवं 'हशिच' से रुद्रः के रकार हश् के परे रहते 'रु' को उ होकर और 'अ + उ' = ओ गुण होकर 'एषको रुद्रः' रूप बनता है।

अनञ् समासे हलि किमिति—'एतत्तदोः इत्यदि सूत्र से नञ् समास की स्थिति में एतद् व तद् शब्द के सु का लोप निषेध करता है। अतः 'असःशिवः' इस उदाहरण में सु का लोप नहीं हुआ क्योंकि यहाँ न सः इति असः यह नञ् समास है। अतः सु लोप न होने के कारण सु के 'उ' की इत्संज्ञा व लोप तथा सकार को रुत्व विसर्ग होकर 'असःशिवः' यह प्रयोग सिद्ध होता है।

हलि किमिति—'एतत्तदोः' इत्यादि सूत्र से हल् वर्णों के परे रहने पर ही सु का लोप होता है क्योंकि 'एष सु + अत्र' इस स्थिति में हल् के स्थान पर स्वर (अकार) परे रहने पर सु के उकार की इत् संज्ञा लोप होकर सकार को रु तथा उससे पूर्व और पर में अप्लुप्त अकार होने से 'अतो रो०' सूत्र से रु को उ और अ + उ = ओ गुण होकर एवं पूर्व रूप होकर 'एषोऽत्र' रूप बना।

सोऽचिलोप इति—अच् स्वर वर्णों के परे रहने पर 'स' (तद्) शब्द से सु का लोप होता है, जब यदि लोप होने पर ही पाद की पूर्ति करनी होती है।

सेमाम्विड्ढि—'ससु + इमाम विड्ढि प्रभृतिम्' इस स्थिति में अच् वर्ण है 'इ,' जो कि पर में है। अतः 'सोऽचि' इत्यादि सूत्र से यहाँ स (तद्) के परे आने वाले प्र० वि० ए० व० के प्रत्यय 'सु' का लोप हो जायेगा। उसके बाद अ + इ = 'ए गुण होकर सेमामविड्ढि' प्रयोग बनता है। वास्तव में 'यह' एक छान्दस (वैदिक) उदाहरण तथा वैदिक जगती छन्द का एक चरण है। जिसकी पूर्ति सु के लोप करने पर ही हुई है। अस्तु यहाँ सु का लोप उक्त सूत्र से किया गया है।

सैष दाशरथी रामः—'स सु + एष दशरथी रामः' इस स्थिति में यहाँ सोऽचि.. इत्यादि सूत्र से स्वर परे रहते सु का लोप हो जाता है और सु का लोप होने पर 'स + एष' में वृद्धि 'ए' एकादेश हो जायेगी, तब सैषदाशरथी रामः 'प्रयोग सिद्ध होता है।

विशेष—यह अनुष्टुप् छन्द का एक पाद (चरण) है जिसके प्रत्येक पाद में आठ अक्षर होते हैं। यदि यहाँ सु लोप करके वृद्धि सन्धि नहीं की गयी होती, हो इसमें ९ वर्ण हो जाते। अतः सु लोप करने पर ही यहाँ सन्धि करके पाद पूर्ति की गयी है। अस्तु पाद-पूर्ति के निमित्त ही यहाँ सु लोप करना अत्यावश्यक था। सु लोप का यहाँ यही रहस्य ज्ञात होता है।

।।इति विसर्ग सन्धिप्रकरणम्।।

परीक्षोपयोगी प्रश्न

- **बहुविकल्पीय**

१. विगर्स को 'स' करने वाला सूत्र का सही अर्थ।

(क) खर् प्रत्याहार में आने वाले वर्णों के परे रहने पर विसर्ग को सकार आदेश हो जाता है,

(ख) हल् वर्णों के बाद में रहने पर विसर्ग को सकार होता है,

(ग) पूर्व शब्द के अन्त में तथा पर पद के प्रारम्भ में व्यञ्जन हों तो विसर्ग को सकार हो,

(घ) उपर्युक्त सभी विकल्प सही हैं।

२. 'हरश्शिते' का सही विग्रह इस प्रकार है।

(क) हरिः + शेते, (ख) हरिस् + शेते,

(ग) हरेः + शेते, (घ) हरि उ + शेते।

३. 'अतोरोरप्लुतादप्लुते' सूत्र का सही उदाहरण है।

(क) शिवोऽर्च्यः, (ख) शिवासार्च्य,

(ग) शिवोऽऽर्च्य, (घ) शिवार्च्यः।

४. 'रामोऽयम्' का विग्रह किस सूत्र के द्वारा है।

(क) हशिच, (ख) ससजुषोरुः,

(ग) अतोरोरप्लुतादप्लुते, (घ) वाशरि।

५. 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' सूत्र का सही उत्तर है।

(क) ढ और रेफ (र्) का लोप होने पर ढ् अथवा र् के पूर्व वाले अण् (अ, इ, उ) को दीर्घ हो जाता है,

(ख) केवल ढकार और रेफ का ही लोप हो जाता है,

(ग) मात्र ढकार अथवा रेफ का लोप होने पर पूर्व के अण् को विकल्प से दीर्घ होता है,

(घ) रकार से परे रकार तथा ढकार से परे ढकार हो तो पूर्व के रेफ या ढकार का लोप हो जाता है।

उत्तरमाला

१. (क) २. (क) ३. (क) ४. (ग) ५. (क)।

- **लघु उत्तरीय**

प्रश्न १. 'मनोरथः' की सिद्धि में 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' सूत्र के अनुसार परशास्त्रीय नियम को कौन सूत्र बाधित करता है तथा कौन-सा सूत्र प्रभावी सिद्ध होता है।

उत्तर—'**मनोरथः**' 'मनस् + रथः' इस स्थिति में मनस् के सकार को 'ससजुषोरुः' सूत्र से 'रु' होकर तथा उकार की इत्संज्ञा और लोप होकर र बचा तब 'मनर् + रथः' ऐसी स्थिति में 'रोरि' सूत्र से 'मनर्' के रकार का लोप प्राप्त हुआ किन्तु 'हशिच' के नियम से रु के स्थान पर उकार आदेश होने वले तुल्यबल विरोधी सूत्रों '**विप्रतिषेधे परं कार्यम्**' के अनुसार परशास्त्रीय विधि लागू होने पर र् लोप प्राप्त होता है, किन्तु '**पूर्वत्रासिद्धम्**' सूत्र के नियम से **रोरि** ८।३।१४।। त्रिपादी का सूत्र, हशिच ६।१।११४।। सपादसप्ताध्यायी के सूत्र के सामने असिद्ध हो जाने 'हशिच' सूत्र ही प्रभावी सिद्ध होता है। अस्तु 'रथः' का रकार (हश्) के परे होने से 'मनरु' के रु को उकारादेश तथा आद्गुणः से 'अ + उ = ओ' गुण होकर 'मनोरथः' शब्द सिद्ध होता है।

प्रश्न २. 'पूर्वत्रासिद्धम्' सूत्र की सोदाहरण व्याख्या कीजिए।

उत्तर—यह सूत्र सपाद सप्ताध्यायी का अन्तिम सूत्र है जिसके समक्ष त्रिपादी के सभी सूत्र असिद्ध हो जाते है तथा त्रिपादी के समक्ष सपादसप्ताध्यायी भी असिद्ध हो जाती है अर्थात् ये दोनों ही एक दूसरे के नियमों को निषेध (असिद्धत्व) कर देते हैं मनोरथः की सिद्ध इस तथ्य को प्रमाणित कर देती है। (कृप्या सूत्र संख्या ११३ की व्याख्या देखें।

प्रश्न ३. 'हशिच' सूत्र की व्याख्या और उदाहरण लिखिए।

प्रश्न ४. 'अहरहः' उदाहरण की सिद्धि किस सूत्र से होती है उसकी सोदाहरण व्याख्या कीजिए।

प्रश्न ५. सोऽचिलोपे चेत्पादपूरणम्' सूत्र की व्याख्या कीजिए।

प्रश्न ६. 'हलि सर्वेषाम्' सूत्र के उदाहरणों की सिद्धि कीजिए।

- **दीर्घ उत्तरीय**

प्रश्न १. निम्नलिखित सूत्रो की व्याख्या सोदाहरण करें।

(१) ससजुषोरुः, (२) एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ् समासे हलि, (३) रोरि, (४) भो भगो अघो अपूर्वस्ययोऽशि।

प्रश्न २. निम्न सूत्रों की सूत्रवृत्ति को हिन्दी में उदाहरण देकर समझाइये।

(१) विसर्जनीयस्य सः, (२) रोऽसुपि, (३) विप्रतिषेधे परं कार्यम्, (४) खरवसानयोर्विसर्जनीयः, (५) वा शरि, (६) अतोरोरप्लुपादप्लुते।

विशेष : लघु उत्तरीय तथा दीर्घ उत्तरीय प्रश्नों के उत्तर पुस्तक के मूल भाग में देखें।

✤